सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 56 : अंक : 05

अगस्त 2023

प्रकाशन तिथि :

मूल्य - एक प्रति: 22/- , वार्षिक : 230/-

अमृतकण

श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्व भाविनी
सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णव तारिणी
श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभि:
निष्किंचनास्तु मुनय: श्रद्धावन्तो दिवं गता:।

श्रद्धा देवी धर्म की पुत्री है, वे विश्व को पवित्र एवं अभ्युदयशील बनाने वाली है। इतना ही नहीं, वे सावित्री के समान पावन, जगत को उत्पन्न करने वाली तथा संसार सागर से उद्धार करने वाली है। आत्मवादी विद्वान श्रद्धा से ही धर्म का चिंतन करते हैं। जिनके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, ऐसे आकिंचन मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही दिव्य लोकों को प्राप्त हुये हैं।

◆ ◆ ◆

शैल समं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम्
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यो भेत्ता कदाचन्।

यदि पापों का पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग से नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है।

◆ ◆ ◆

आपूर्य माणम चल प्रतिष्ठं,
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

जिस प्रकार से सारी नदियाँ अपना नामरूप खोकर समुद्र में समा जाती है उसी प्रकार से जिस योगी की सभी कामनायें आत्म प्रकाश में विलीन हो जाती हैं वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है किन्तु कामनाओं का आकांक्षी अशान्त ही बना रहता है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 56 अगस्त 2023 अंक : 05

व्यसनेवार्थ कृच्छे वा भये वा जीवितान्तके।
विमृशन्वै स्वयाबुद्धया धृति मान्नावसीदति।।

अर्थात् धैर्यवान व्यक्ति, स्वजन का वियोग होने पर, धन का नाश होने पर भय सामने आने पर और प्राणों पर संकट होने पर भी अपनी बुद्धि से काम लेते है, अतः कभी दुःखी नहीं होते।

•••

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	**विशेष लेख**- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	**सम्पादकीय**	10
3.	**श्रीमद्भागवत में योगपरिचर्चा**- डॉ. विजय सिंह	12
4.	**लीलाधारी की लीलाएँ**- श्री जगदीश राए बंसल	16
5.	आसक्ति ही दुख का कारण है- श्री वासुदेव शर्मा	21
6.	दान का स्वरूप- श्री कृष्ण कुमार पाण्डेय	26
7.	आश्रम समाचार	29
8.	दृढ़ संकल्प-सफलता का मूल मंत्र	30
9.	वेदान्त, सिद्धान्त और व्यवहार- श्री स्वामी शारदानन्द जी	33
10.	दु:खालय शाश्वत्- श्री सुरेन्द्रबहादुर एम.ए.	37

एक प्रति	: रु. 22.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 230.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1500.00

विशेष लेख–

वर्णाश्रम धर्म और योग

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे ऋषि मुनियों के प्राचीन सिद्धान्त और उनकी दूरदर्शिता का कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता, उन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार जिन–जिन सिद्धान्तों की स्थापना की वस्तुतः वे सब सत्य सिद्धान्त ही हैं। सिद्धान्त शब्द का आशय है कि जिसका अन्तिम निर्णय बिल्कुल सत्य–सत्य हो वह सिद्धान्त कहलाता है। आचार्यों ने मनुष्य मात्र के भले के लिए चार आश्रमों की स्थापना की। यद्यपि यह भी एक निष्कर्ष सिद्धान्त की बात है प्राचीन ऋषि पद्धति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, रुद्र, आदि चारों वर्ण भी ईश्वरी देन हैं किन्तु यदि स्त्रियों का संरक्षण बिल्कुल ठीक–ठीक पातिवृत्य धर्म के नियमानुसार बिल्कुल ठीक तौर पर होता है और गर्भाधान भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित समय पर होता है तब जैसे पुरुष का आधान–विधान होगा–सन्तान भी बिल्कुल उसके अनुरूप ही होगी–इसमें कोई भी शंका की बात नहीं। आम के बीज से आम और नीम के बीज से नीम आदि–आदि वृक्षों की उत्पत्ति देखने में आती है। यही कारण था कि हमारे पूर्वजों ने स्त्रियों की रक्षा के लिये बड़े–बड़े उत्कृष्टोत्कृष्ट नियम रखे थे जिससे यह सब पर पुरुषों का दर्शन भी न कर सकें। हमने अपने इधर–उधर के भ्रमणकाल में प्राचीन काल के क्षत्रिय शासकों के महल देखे हैं जिनमें स्त्रियों के संरक्षण का बड़े–बड़े उपयोगी और उत्कृष्ट उपाय बर्ते जाते थे। अतः उनके गर्भ से जो सन्तान पैदा हाती थी वह शुद्ध पवित्र अपने पिता के अनुरूप ही हुआ करती थी। महाभारत की लड़ाई के समय अर्जुन के मन में यही एक बहुत बड़ी शंका पैदा हुई थी और उसी शंका को मन में रखते हुये भगवान कृष्ण के सम्मुख उसने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया था–

कथं न ज्ञेयमस्माभिः
पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं
प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति
कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलंकृत्स्नम–
धर्मोऽभिभवत्युत।।
अधर्माभिभवात्कृष्ण
प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय
जायते वर्णसंकरः।।
संकरो नरकायैव कुल–
घ्नानां कुलस्य च।

अर्थात् अर्जुन के मन में यह शंका पैदा हुई कि यदि हम लड़ाई करेंगे तो बीर योद्धा सब मारे जायेंगे। स्त्रियाँ सब स्वच्छन्द हो जावेंगी और वह सब इधर–उधर के पतित कर्मों में पड़कर वर्णसंकर सन्तान पैदा करेगा। जिसका अन्तिम परिणाम नरक ही होगा। यह हमारी प्राचीन विचार पद्धति थी स्त्रियों का संरक्षण बड़े विधि विधान से किया जाता था, जिससे उत्तम सन्तान पैदा हो सके। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चौथे अध्याय में चतुर्वर्ण की उत्पत्ति का संकेत स्वयं किया है और उसकी ईश्वरीय संविधान बतलाया है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं
गुणकर्मविभागशः।

यदि ईश्वर की परम कृपा से वर्ण धर्म के नियमानुसार अपने–अपने वर्ण में शुद्ध बीज से सन्तानों की उत्पत्ति हुई है और ऋषि पद्धति नियमों के अनुसार उनका संरक्षण एवं पालन पोषण आश्रम धर्मों के अनुसार ठीक–ठीक बन पड़ा है तो मनुष्य जीवन की सफलता को पा जाना कोई भी कठिन बात नहीं है। हमारे आचार्यों ने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को उत्कृष्टता की ओर ले जाता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि मुनि लोग घनघोर जंगलों में अपने–अपने आश्रमों की संस्थापना किया करते थे और वहाँ पर छोटे–छोटे बच्चों को लेकर के उनकी शिक्षा पद्धति चलती थी। यम नियमों का नियमानुसार पालन कराया जाता था। उन छोटे बच्चों की वासना का ज्ञान ही नहीं हो पाता था इसके फलस्वरूप स्वतः ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाया करता था। किसी

वासना भोगी व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाना सहज बात नहीं। क्योंकि "न जातु कामः कामानामुप भोगेन साम्यतो" हविषा कृष्ण वर्तम्येव मयभूयेवाभिवर्तते अर्थात् मन में पैदा हुई कामना–कामनाओं के उप–भोग से शान्त नहीं होती प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने पर आग भड़क उठती है ठीक उस ही प्रकार से कामनाओं के उपभोग करने वाले व्यक्तियों के मन में दिन दूनी रात चौगुनी कामनायें बढ़ती चली जाती हैं। आज कल के कठिन समय में जबकि सारे देश–प्रदेशों मे कामोपभोग का अनवरत चक्र चल रहा है। तथा ऐसी स्थिति में योग ध्यान को प्राप्त कर लेना बिल्कुल असम्भव सी बात हो गई है तब भी जिन बच्चों को वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराया जाता है उनके मनों के अन्दर का मोपभोगी की भावना ही नही बन पाती और इसके साथ–साथ जंगलों में रहने पर नित्य शुद्ध कन्दमूल फलों का आहार करने एवं ऊपर से पवित्रतम् गौ दुग्ध का पान कराये जाने पर एवं गुरुकुल एवं ब्रह्मचर्य आश्रम की नियमावली के अनुसार आसन, बन्धमुद्रायें एवं प्राणायाम आदि का अभ्यास नियमानुसार कराया जाये तो ऐसी स्थिति में स्वतः ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाता है। ऐसे ब्रह्मय से वातावरण में बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही काल पर विजय प्राप्त करने वाला बन जाता है। वीर्य धारण करने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। वीर्य को हमारे शास्त्रों में ब्रह्म रूप से कथन किया गया है। जो वीर्य को धारण करे वही ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवीं धातु है उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है–

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं
बल पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भ बीजं वपुः सारो
जीवनाश्रय उत्तमः।।

अर्थात् मनुष्य जब अन्न सेवन करता है रस उससे रस बनता है, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी (अस्थि) अस्थि के बाद मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है। और वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य को दैदीप्यमान रखता है। वीर्य सम्पूर्ण शरीर का आधार जीवन का आश्रय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी और ईख के रस मे गुड़ व्यापक रहता है, वैसे ही अन्त में वीर्य रहता है। इसी से मन और बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही सर्व सिद्धियों का मूल है। शिव संहिता में भगवान शंकर ने ऊँचे शब्दों में आज्ञा की है–

मूलमं–मरणं बिन्दु पातेन
जीवनं बिन्दुधारणे।
तस्मादति प्रयत्नेन
कुरुते बिन्दुधारणम्।
मूलम–जायते म्रियते लोके
बिन्दुना नात्र संशयः।
एतज्ज्ञात्वासदा योगी
बिन्दुधारणामाचरेत्।
मूलम्–सिद्धे बिन्दौ महायत्ने
किं न सिध्यतिभूतले।
यस्य प्रसादा महिमा
ममाप्येदृशो भवेत्।।

अर्थात् बिन्दु के पतन से मरण व बिन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म और मरण बिन्दु से ही होता है। इसलिये योगी को प्रयत्न करके बिन्दु धारण करना चाहिए। यत्न पूर्वक बिन्दु जय कर लेने पर संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध किया जा सके भगवान कहते हैं कि मेरा जो कुछ प्रभाव संसार में दिखलाई पड़ता है, वह केवल वीर्य धारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम बहुत बड़े–बड़े हैं। शास्त्र विधि के अनुसार ब्रह्मचारियों की दो संज्ञायें रखी गई हैं।

1. नैष्ठिक 2. उपकुर्वाण

1. नैष्ठिक–नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवन–पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ भीष्मपितामह, शंकराचार्य, आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए हैं।

2. उपकुर्वाण–उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण रूप से पालन करके गृहस्थ में प्रवेश कर जाये। इनमें किसी भी संज्ञा का कोई भी ब्रह्मचारी हो, ब्रह्मचर्य अवस्था में मैथुन त्याग परमावश्यक है।

कर्मणा मनसावाचा
सर्वावस्थासुसर्वदा।
सर्वत्र मैथुनं त्यागो
ब्रह्मचर्य प्रवर्जयेत्।।

जो सब अवस्था में मन, वाणी कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है। वही ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी है। मनुस्मृति आदि में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए बहुत बड़े–बड़े नियम लिखे हैं। लेख के बढ़ जाने के भय से इन सबका यहाँ उद्धरण करना आवश्यक नहीं समझा गया। किन्तु इस विषय में सभी शास्त्रों का एक मत है कि मन से ब्रह्मचारी को विषयों का चिंतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि–

ध्यायतो विषयान्तुसः
सङ्गस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः
सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य को संग–संग से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार जो मनुष्य चिन्तन मात्र से विषयों का स्मरण नहीं करता वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है। अन्यथा नहीं। जिसने इस ब्रह्मचर्य रूप महाशक्ति को धारण कर लिया है, उसने संसार को जीत लिया है। ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह शक्तिपात करने की शक्ति आ जाती है। भगवान पतंजलि ने ब्रह्मचर्य धारण का फल एक सूत्र में बतलाया है–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

ब्रह्मचर्य को पूर्व प्रतिष्ठा से पूर्ण सामर्थ्य लाभ होता है। इसी सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी कहते हैं।

यस्यलाभाद् प्रतिघानगुणानुत्कर्षो यतिः सिद्धश्चविनेयेषु ज्ञानामाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात् इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से अनुपम गुण बढ़ते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों से शक्ति संचार करके ज्ञान धारण करा सकता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्म में विचरने वाला पूर्ण समाधिस्थ योगी बन जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ

मी ब्रह्मणों चरितुम शीलमस्त्यास्तीयः स ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म में विचरण ने की जिसकी आदत पड़ जाती है यथार्थ में वही ब्रह्मचारी कहलाता है और हमारे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर ही इसकी पूर्ण रूपेण पूर्ति हो जाती है, क्योंकि जंगल में रहने वाले ऋषि मुनि साधु महात्मा जिन बालकों को शुद्ध सात्विक कन्दमूल फल और पत्ती के साग एवं गौ दुग्ध पान कराकर के और इसके साथ ही नैत्यिक यौगिक व्यायाम कराते हुये वेद शास्त्र उपनिषद् आदि का अध्ययन कराते हुये समय पर प्राणायाम आदि की शिक्षा देते हैं तो 25 वर्ष की अवस्था से पहले ही यह बालक पूर्ण योगी बन जाता। पूर्ण योगी बनने के साथ–साथ जिस व्यक्ति ने वासना का दर्शन किया ही नहीं वह ऊर्ध्वरेता हो कर उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें पहुँचने पर बाह्य विषय उसको आकर्षित कर ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आश्रम में ही जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली है वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद अवश्य ब्रह्मचारी ही रहेगा। इन्द्रियों का तीव्रतम आकर्षण उसको विचलित नहीं कर सकेगा। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनु स्मृति में इन ही भावों को पूर्ण रूपेण स्पष्ट शब्दों में अभिज्ञप्त कर दिया है। श्री मनु स्मृति में मनु जी महाराज का स्पष्ट उल्लेख है कि–

ऋतुकालाभिगामिस्यात

स्वदार निरतः सदा।

ब्रह्मचारिण्येव एव भवति

यत्र तत्र आसने वसन।।

अर्थात् जो व्यक्ति ऋतु कालान्तर अपनी पत्नी से सहवास करता है और उसमें ही पूर्ण प्रेम करता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट नहीं होता प्रत्युत ऐसी अवस्था में भी वह पूर्ण ब्रह्मचारी ही बना रहता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की साधना में जिसने ऊर्ध्वरेतसता प्राप्त कर ली है एवं अपने प्राण कोष को ब्रह्मरंध्र तक खींचकर ले गया है फिर वह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुये भी बिल्कुल पतन से परे रहेगा और युक्त बना रहेगा। इसके अतिरिक्त स्वदारनिरत योगी की पत्नी भी अवश्य योगिनी ही बन जाएगी। वह अपने पति के सहवास से स्वाभाविक शक्तिपात प्राप्त करेगी और उसके अन्दर भी पूर्ण रूपेण योग समाधि का प्रकाश हो जाएगा। इस प्रकार जहाँ पर पति एवं पत्नी दोनों योगी हैं तो उनकी भावी सन्तान भी उस ही प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि का पालन कराये जाने पर योगी ही बन जाएगी। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ में पवेश कर जाने

पर वह दोनों पति पत्नी ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर की हुई कमाई को पुनः अपने अभ्यास क्रम में लाकर के चमका लेंगे और यह वानप्रस्थ आश्रम का समय अपने अभ्यास में और प्रचार में व्यतीत करते हुए यही लोग सन्यास आश्रम में प्रवेश करते हुये पूर्ण वीतराग होते हुये स्थान–स्थान पर जाकर के विशुद्ध प्रचार क्षेत्र को बढ़ाते हुये हजारों व्यक्तियों के कल्याण के कारण बन जायेंगे। यह है हमारे प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार वर्णाश्रमों में रहकर वर्णधर्मों का पालन करते हुये योग युक्तता को पाने की विधि। आजकल का समय तोबहुत ही बढ़े हुये भ्रष्टाचार का समय है। कदाचित् कोई व्यक्ति इन प्राचीन विचारों को अपने मस्तिष्क में बैठा लेगा, तो इसमें कोई भी शंका की बात नहीं कि वह मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष पूर्ण समाधिस्थ स्थिति को अवश्य–अवश्य पा जाएगा।

सर्वे भवन्ति सुखिनः
सर्वे सन्तुः निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिददुःख भाग्भवेत।।

आत्म–विश्वास

जीवन को आदर्श और सुखमय बनाने के जहाँ अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ आत्मविश्वास भी एक मुख्य साधन है। आत्म विश्वास से मनुष्य उच्च और महान् बन सकता है। संसार में कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। अभी तक जितने भी अलौकिक, अद्भुत और महान् कार्य हुये हैं, वे उन्हीं महान् आत्माओं द्वारा हुए हैं, जो पूर्ण आत्म–विश्वासी थे। जिनकी आत्माओं में अदम्य उत्साह तथा अटूट आत्मविश्वास था। अतः हे प्रिय बन्धुओं! तुम अपने अन्दर अदम्य आत्मविश्वास को धारण करो। अपने को दीन, मलीन तथा तुच्छ तथा हीन मत समझो। अपने अन्दर वेद की इस उदात्त भावना धारण करो–

''शुक्रोसि, भ्राजोसि, स्वरति, ज्योतिरसि''

''हे मनुष्य तू महा बलवान् और शक्तिमान् है। शुद्धि पवित्र और निर्मल है, तू तेजस्वी और वर्चस्वी है, तू सुख और शान्ति का भण्डार है, तू सकल ज्योतियों की भी परमज्योति है।''

–श्रुतिसार

सम्पादकीय–

जय यज्ञ स्वरूप एवं महत्व

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

मन्त्र जाप का महत्व सभी मत, सम्प्रदाय एवं यौगिक ग्रन्थों में बताया गया है। जाप को ही जप, नाम संकीर्तन, नाम सुमिरन आदि नामों से जाना जाता है। योग में इसे जाप व स्वाध्याय कहा गया है। योग दर्शन में ईश्वर का नाम प्रणव बताया है और इसे अर्थ–भावना से जाप करने का उपदेश दिया है। जाप के साथ अर्थ भावना अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् जो जप हम कर रहे हैं उसके व्यापक अर्थ का महत्व समझ कर जाप करें। अध्याय में अनुभूति के लिये यह पहली सीढ़ी है। गीता में भगवान् ने जप यज्ञ को सर्वोत्तम बताया है। **'यज्ञानाम् जप यज्ञोऽस्मि'** कहकर इसके महत्व को दर्शाया है। जाप में अर्थ–भावना या सुमिरन का ज्यादा महत्व है अन्यथा जाप करते रहें और मन कहीं और जगह हो तो लाभ नहीं होगा।

योग में स्वाध्याय के दो रूप माने हैं एक तो प्रणव आदि ईश्वर के नाम का निरन्तर जाप और दूसरा मोक्षदायक ग्रन्थों का अध्ययन। ये दो रूप हैं स्वाध्याय के। स्वाध्याय का फल योग दर्शन में इष्टदेव का दर्शन होना बताया है–'स्वाध्यायाद इष्टदेवता सम्प्रयोग:'' स्वाध्याय से इष्ट देव के दर्शन होते हैं। इष्टदेव साधक के सामने आते हैं और वरदान दे जाते हैं ताकि आगे उत्तरोत्तर आध्यात्म उन्नति होता चला जाये। साधक को इष्ट देव के नाम का निरन्तर दो तीन घण्टे लगातार जाप करना चाहिए। जाप में बार–बार एक ही प्रकार के शब्द का घर्षण होने से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। साधक के घर में प्रकाश होने लगता है सतोगुण की वृद्धि होती है जो प्रकाश देने वाला होता है। यही आध्यात्म ऊर्जा या energy है।

गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा–अर्जुन तुम्हें योग विद्या सीखनी चाहिए, यही दुःखों की निवृत्ति का उपाय है। योग अभ्यास बिना उकताने बिना थके करते रहना चाहिए। प्राय: साधक जल्दी ही थक जाता है और उपराम होकर अभ्यास छोड़ देता है। इसलिये भगवान कहते हैं गीता में–

'योगो अनिर्विण्ण चेतस:।'

योग दर्शन के साधन पाद में भगवान् पतञ्जलि देव ने क्लेशों को दूर करने एवं आत्मदर्शन के तीन उपाय क्रियायोग के रूप में बताये हैं।

तपस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।' *(साधनपाद सूत्र।)*

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग कहलाता है इन साधनों के दृढ़ अभ्यास से प्रत्यक् चेतन अर्थात् आत्मा का दर्शन होता है और योग मार्ग के जो अन्तराय हैं उनका भी निवारण हो जाता है।

कठोपनिषद् में आत्मदर्शन का दृढ़ उपाय एक मन्त्र के द्वारा बताया गया है जो निम्न है–

स्वदेहं अराणेम् कृत्वा प्रणवम् च उतरारणीम्
ध्यानाभ्यास निर्मथ्नाद् देवं पश्येत् निगूढवत्।

अर्थात् अपने शरीर का अराणि (नीचे की लकड़ी) बनाकर प्रणव को मन्त्र को उतरारणी बनाकर ध्यान रूपी मन्थन के द्वारा आत्मा का दर्शन करे।

जिस प्रकार से प्राचीन काल से ही अरणी मन्थन के द्वारा अग्नि प्रकट करके यज्ञ किया जाता रहा है उसी प्रकार से अपने शरीर को आधार बनाकर मन्त्र को ऊपर की अरणी बनाते हुये ध्यान के अभ्यास से प्राप्त अग्नि के रूप में आत्मा का दर्शन कर ले। इस प्रकार से ध्यान एवं जाप का क्रियात्मक रूप बताकर ध्यान का सही स्वरूप बताया गया है। हमारे गुरुदेव भगवान भी साधकों को अजपा का दो घण्टे जाप एवं एक घण्टे ध्यान की आज्ञा कर साधक को देते थे। गीता में भगवान के अपने को सुलभ करने का उपाय एक श्लोक में बताया है जो निम्न है–

अनन्य चेताः सततं यो माम् स्मरतिनित्यशः,
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः।।

गीता–8/14

अर्थात् अनन्यचित्त होकर सतत् एवं नित्य जो मेरा स्मरण करता है ऐसे नित्य युक्त योगी के लिये मैं सहज ही सुलभ हो जाता हूँ।

इस प्रकार से साधना में जाप एवं ध्यान ही मुख्य घटक हैं जो साधक को लम्बे समय तक करते रहना चाहिये जब तक आत्म–दर्शन न हो जाये।

''ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः''

श्रीमद्भागवत में योगपरिचर्चा

डा. विजय सिंह

एकादश स्कन्ध के बीसवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव जी के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुये मानव शरीर की उपयोगिता और अनुपयोगिता पर भी प्रकाश डाले हैं। वे कहते हैं–स्वर्ग और नरक में रहने वाले जीव इस मानव शरीर की ईच्छा रखते हैं, क्योंकि इसी शरीर में अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ज्ञान अथवा भक्ति की प्राप्ति हो सकती है। स्वर्ग अथवा नरक का भोग प्रधान शरीर किसी भी साधना के लिये अनुपयुक्त है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि मत्यु होने के पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले कि जन्म–मरण के चक्र से छूट जाये। इसलिये ही योगी मेरी भक्ति से युक्त मेरे चिन्तन में मग्न रहता है उसके लिये ज्ञान व वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो मेरी भक्ति के द्वारा ही हो जाता है।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।।

।। 31.20.11

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याण साधनों से जो स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा धाम अथवा कोई भी बस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्ति योग के प्रभाव से ही अनायास प्राप्त कर लेते हैं।

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरित्तरैरपि।।

।। 32.20.11

उद्धव जी! इस प्रकार मेरे बतलाये ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का आश्रय लेते है, वे मेरे परम कल्याणस्वरूप धाम को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परब्रह्मतत्व को जान लेते हैं।

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः।। //37.20//

इक्कीसवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने गुण–दोष–व्यवस्था का स्वरूप और रहस्य का उपदेश उद्धव जी को दिये हैं। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश–ये पंचभूत ही ब्रह्मा से लेकर पर्वत–वृक्षपर्यन्त सभी प्राणियों के शरीरों के मूल कारण हैं। प्रिय उद्धव! यद्यपि शरीर के पंचभूत समान हैं। फिर भी वासना–मूलक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सिद्ध करने के लिये वर्णाश्रम आदि अलग–अलग किये गये हैं। गुरुमुख से सुनकर मंत्र को ह्रदयंगम् करने से, तथा कर्मों की शुद्धि मुझे कर्म फल समर्पित करने से होता है। इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मंत्र और कर्म शुद्ध होने से धर्म और अशुद्ध होने से अधर्म होता है। उद्धव जी! इसमें सन्देह नहीं कि संसार के विषय भोगों में, प्राणों में, सगे–सम्बन्धियों में मनुष्य जन्म से आसक्त रहता है, यही आत्मोन्नति में बाधक और अनर्थ का कारण है।

उद्धव जी! स्वर्गादि परलोक स्वप्न के दृश्यों के समान हैं, वास्तव में वे असत् हैं। सकाम पुरुष वहाँ के भोगों के लिये ही मन में संकल्प करके लाभ की आशा में मूल को खोते रहते हैं।

उद्धव! वेदों का नाम है शब्दब्रह्म! वे मेरी मूर्ति है, इससे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्द ब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी के रूप में प्राण, मन और इन्द्रियमय है। सीमारहित और अथाह है। यह वेद वाणी प्राणियों के अन्तःकरण में अनाहतनाद के रूप में प्रकट होती है।

भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं। उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्द के द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है। वे स्पर्श आदि वर्णों का संकल्प करने वाले मनरूप निमित्तकारण के द्वारा ह्रदयाकाश से अनन्त अपार वैरवरी रूप वेदवाणी को स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपने में लीन कर लेते हैं। ह्रदय शत सूक्ष्म् ॐकार द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श (क से लेकर म तक 25), स्वर (अ से औ तक 9), उष्मा (श, ष, स, ह) अन्तःस्थ (य, र, ल, व) इन से विभूषित है। श्रुतियाँ कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड में जो और जिस तरीके से विधान करती हैं, उसे मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता।

सम्पूर्ण श्रुतियों का बस तात्पर्य है कि मेरा आश्रय लेकर मुझ में भेद (नानत्व) का आरोपण करती हैं। वह मायामात्र है और अन्त में सबका निषेध करके मुझ में ही शान्त हो जाती है।

बाइसवें अध्याय में उद्धव जी ने तत्त्वों की संख्या तथा पुरुष–प्रकृति विवेक के बारे में जिज्ञासा किया है। इसी को समझाते हुये भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–उद्धजी! तत्त्वों के बारे में जैसा कहा गया है, वह सभी ठीक है। क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं। सत्त्व, रज आदि गुणों के प्रभाव में पड़कर लोग अपनी–अपनी मनोवृत्ति का आग्रह करते हैं। जब चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपंच (तत्त्व–भेद) भी निवृत्त हो जाता है। तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। अतः सत्त, रज, तम आत्मा का गुण नहीं, प्रकृति का ही गुण सिद्ध होता है। सत्तो गुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण अज्ञान है। गुणों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला ईश्वर ही काल है। उद्धव जी ने पूछा–श्यामसुन्दर। यद्यपि प्रकृति और पुरुष स्वरूपतः एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति ऐसे घुले–मिले है कि अभिन्न से प्रतीत होते हैं। प्रभो! इनकी भिन्नता कैसे स्पष्ट हो।''

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–उद्धव जी! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा दोनों अलग हैं। प्रकृति से महत्तत्व बनता है और महत्तत्व से अहंकार। यह अहंकार गुणों के क्षोभ से उत्पन्न हुआ प्रकृति का ही विकार है। अहंकार के तीन भेद हैं। सात्विक, राजस और तामस। यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टि की विविधता का मूल कारण है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

उद्धव जी ने पूछा–प्रभो! जीव अपने किये हुये पुण्य- पापों के कारण ऊँची–नीची योनियों में आते–जाते रहते हैं। प्रश्न यह है कि व्यापक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, अकर्ता का कर्म करना और नित्य–वस्तु का जन्म मरण कैसे सम्भव है ?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–प्रिय उद्धव! मनुष्यों का मन कर्म–संस्कारों का पुंज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसी का नाम लिंग शरीर है। यही कर्मानुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में आता–जाता है। आत्मा इस लिंग शरीर से सर्वथा पृथक है। परन्तु जब इस लिंग शरीर को ही अपने को समझ लेता है तो अहंकार वश उसे

भी आना–जाना प्रतीत होने लगता है।

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते।।

।। 36.22 ।।

प्रिय उद्धव! इसलिये इन दुष्ट इन्द्रियों से विषयों को मत भोगो। आत्म–विषयक अज्ञान से प्रतीत होने वाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो। वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एक मात्र साधन है। जब अविवेकी जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म–मृत्यु चक्र में भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मों की आसक्ति से वह ऋषिलोक और देव लोक में जाता है। राजसिक कर्मों की आसक्ति से मनुष्य और असुर योनियों में तथा तामसिक कर्मों की आसक्ति से भूत–प्रेत एवं पशु–पक्षी आदि योनियों में जाता है।

प्रिय उद्धव! विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्तस्वभाव ही है। विषयों के सत्य न होने पर भी जीव उन्हीं का चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म–मृत्यु रूप संसार–चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ–परम्परा जागे बिना समाप्त नहीं होती।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्था गमो यथा।।

।। 55.22 ।।

"ॐ रामलाल प्रभवे नमः"

लीला धारी की लीलाएँ

—जगदीश राए बंसल "अधम" 9212434003 एवं 011–35699425

गताँक से आगे–

योग योगेश्वर अनन्त गुरुदेव भगवान मंगल मूर्ति श्री चन्द्रमोहन जी महाराज अपनी भव्य लेखनी द्वारा अवगत कराते रहे हैं कि मेरे सद्गुरु देव (हमारे आपके दादा गुरुदेव) सिद्धों के सम्राट, कल्याण धन, भाग्य विधाता, प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की दिव्य–चमत्कारी लीलाओं को, जिन्हें मैंने स्वयं देखा है तथा निजानुभूति से जन कल्याणार्थ लेखनीबद्ध प्रचार–प्रसार करने का प्रयास है। इन अद्भुत लीलाओं का पठन–पाठन करने वाले साधकों की दिव्य कर्मयोगी श्री प्रभु जी के चरण कमलों में दृढ़ निष्ठा होगी तथा वे कल्याण को प्राप्त होंगे।

— लीलीऐं —

प्रभु श्रीराम लाल जी महाराज के शब्दों में) जब हम समाधि से उठे तो विचार आया कि इस बार श्री महाप्रभु जी महाराज के समाधि उत्थान से पूर्व एक भव्य मण्डप बनाया जाय, जिस पर श्री महाप्रभु जी शोभायमान हो कर समस्त–महात्माओं को आशीर्वाद दे सकें। हम समाधि अभ्यास भी करते रहे और उठने पर थोड़ा–थोड़ा स्फटिक मण्डप भी बनाते रहे। (प्रकृति का नियम है कि जस स्थान पर बर्फ सौ वर्ष तक जमी रहे और गले नहीं वह स्थान स्फटिक बन जाता है। वहाँ बर्फ की शिलाऐं, स्तम्भ, गुम्बज इत्यादि स्फटिक कहलाती हैं।) अब स्फटिक मण्डप तैयार हो गया और श्री प्रभु जी के उठने में तीन दिन शेष थे। तब हमने ऋषि समाज के लिए बहुत से कन्द मूल लाकर एकत्र कर लिए। छोटे मासों से कुछ गिलास तैयार कर लिए। जब श्री महाप्रभु जी समाधि से उत्थान हुए तब हमने साष्टांग प्रथम कर आशीर्वाद प्राप्त किया। ऋषि समाज में साष्टांग प्रणाम कर पुष्प वर्षा की। श्री महाप्रभु जी स्नानादि से निवृत्त होकर उत्साह से मण्डप में विराजमान हो गए। श्री महाप्रभु जी ने गुरु कराते हुए हमें आशीर्वाद देते हुए कण्ठ से लगा लिया बोले–"देखो महात्मन हमारे ब्रह्मचारी ने कैसा सुन्दर स्फटिक मण्डप बनाया है........। और हम मस्ती में झूमने लगे। श्री महाप्रभु जी ने कन्द मूलों

का भोग लगाया फिर केले के मतों पर कच्चों का रसास्वादन कर अत्यन्त प्रशंसा की......।

इतने में वह महात्मा जी भी आ गए, जिनके स्थान पर हम गए थे (जीर्ण शरीर से युवा शरीर को प्राप्त हुये थे) श्री महाप्रभु जी को प्रणाम कर एक प्रश्न पूछा। तब हमारे श्री महाप्रभु जी ने उत्तर देने के लिए हमें आज्ञा दी)

महात्मा बोले—यह कल का आया हुआ छोकरा हमारी शंका का क्या निवारण करेगा ?

श्री महाप्रभु जी बोले—यदि हमारे बच्चे से शंका निवृत्ति न हुई तो फिर हम उसका निवारण करेंगे। अब तुम कठिन से कठिन प्रश्न इस बच्चे से करो।

प्रश्न—महात्मा ने प्रश्न किया—वेदान्त शास्त्र में लिखा है कि एक क्षण में ज्ञान होने पर मोक्ष मिल सकता है, तो योगीजन सैकड़ों वर्षों तक क्यों समाधि लगाते हैं ?

उत्तर—हमने कहा (श्री प्रभुजी) बिना योग के अनन्त जन्मों के संचित शुभाशुभ कर्मों का क्षय होना कठिन है। अतः योग से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रश्न—महात्मा—वेद व्यास जी इस बात को नही मानते, क्योंकि ज्ञान तो बिना योग के भी हो सकता है।

उत्तर—हमारे मुख से श्री महाप्रभु जी ने कहलवाया कि—....

(2) जैसे पति सुख को विवाहिता स्त्री ही जान सकती है। उस सुख को कुंवारी नहीं जान सकती, और जन्मान्ध पुरुष घट के रूप को नहीं जान सकता, वैसे ही अयोगी इस ब्रह्म को नहीं जान सकता जैसे—दैत्यों के पति विरोचन को ब्रह्म उपदेश श्रवण से भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई।

(3) लक्ष्मीपति भगवान जी कहते हैं कि खगेश! जो मनुष्य भवताप से अर्थात् संसार के ताप से तपे हुए हैं, उनको योग रूपी अमृत परमौषधि है।

इस प्रकार श्री महाप्रभु जी की कृपा से हमारे मुख से प्रवाह प्रवाहित होता देख आतुन्गत महात्माओं ने श्री महाप्रभु जी के ऊपर पुरुष वर्षा की, जय जय कार बुला कहने लगे—कि श्री रुद्र अवतारी जी! यह ब्रह्मचारी जी तो आपका ब्राह्मण बालक है, आप चाहें तो वृक्षों से भी कहलवा सकते हैं। यह सब देख कर—सुन कर वह निरुत्तर महात्मा मन ही मन क्रोध करने लगा। इधर हम अपने श्री महाप्रभु जी के चरण कमलों में पड़े परमानन्द में दिव्य दर्शन पाकर अनायास ही हंस रहे थे और हमें परम प्रश्न प्रसन्न देख कर श्री महाप्रभु जी मन्द—मन्द मुस्करा रहे थे। वे महात्मा क्रोध से कहने

लगे कि आपने इस छोकरे से हमारी हंसी करवाई है, वरना हमारी हंसी करना इसकी ताकत में कहाँ था ? इसलिए इस दोष का फल यह अभी-अभी यहाँ भुगत लेगा।

तब श्री महाप्रभु जी ने महात्मा द्वारा तिरस्कार देख कर उसके अभिमान को नष्ट करने के लिए, अपने संकल्प से रहने से कहलवा दियाकि जो अपने आप किये हैं वे सब तुम्हीं को भुगतने पड़ेंगे। तुम्हारे जैसे गुरु निन्दक को श्री चरणों में रहना शोभा नहीं देता। अब तुम अभी श्री महाप्रभु जी के चरणों में नीचे जाओगे। इस पर श्री महाप्रभु जी ने फ़रमाया कि हमारे बच्चों ने जैसा फरमाया है वैसा ही होगा।

यह सुनकर वहाँ बैठे ऋषि समाज ने पुष्पों की वर्षा की.... कहा है शिव जी! आप धन्य हो! धन्य हो...।'' इसके पश्चात् वह शाप देने वाला महात्मा पागलों की भांति गुफा के स्थान से नीचे-नीचे जाने लगा, शरीर कुष्ट रोग से विकृत हो गया-उसके जन्म जन्मान्तरों के पुण्य क्षय हो गया.....। वह देव दुर्लभ मानव तन को खो कर कुगति को प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात् ऋषि समाज में से एक ऋषि ने पूछा-''महाराज जी कुछ योगी वनों में रह कर मोक्ष प्राप्ति का साधन करते हैं और कुछ कर्मयोगी संसार में रह कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर-श्री महाप्रभु जी ने अपने बालक श्री रामलाल जी को उत्तर देने को कहा। श्री रामलाल जी महाराज ने कहा ''कि वन में रह कर मोक्ष प्राप्त करने की विधि से बस्ति में रह कर मोक्ष प्राप्त करना अधिक बहादुरी का काम है।''

तब ऋषि समाज ने कहा-हे शिव अवतारी महा प्रभु जी! यह आपका बालक कलिकाल में श्री कृष्ण प्रकट हुए हैं। हमारी प्रार्थना है आप इनको संस्कारी जीवों के कल्याण के लिए बस्तियों में जाने की आज्ञा प्रदान करें।''

श्री प्रभु जी का भूलोक आगमन-

दूसरे दिन सूर्योदय होने पर श्री महाप्रभु जी ने श्री मुख से फरमाया ''रामलाल, अब आप बस्तियों में जा कर संस्कारी आत्माओं का जहाँ-तहाँ उद्धार करें।''

आज्ञा पाकर श्री महाप्रभु जी को साष्टांग प्रणाम कर आशीर्वाद ले, आकाश मार्ग द्वारा योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज हिमालय से नेपाल भूलोक पर आन पधारे। फिर किसी गाड़ी से जमुनिया घाट पहुँच गए। जगदम्बा भवानी रामरती को अपना आशीर्वाद दे कर आगे चले। दुर्गा देवी रामरती गुरूदेव करुणानिधि जी ने स्थूल चरण कमलों के वियोग से महान कष्ट हुआ और वह तीव्र तम वैराग्य के कारण अपनी

साधना स्थली निकट (जोगबनी बाराचकियाँ जिला चम्पारण–बिहार) से वनों को निकल गई। किन्तु कोई भी यह न जान सका कि साक्षात देवी जी जंगल में कहाँ वास करती है ?

सवाँई पदार्पण–(सन् 1911–1913)

श्री महाप्रभु जी जमुनियाँ घाट से हाथरस से गाँव–गाँव विचरते बरहन होते हुए संवाई पहुँचे। इससे पहले सन् 1909 के 27 दिन के निवास काल बाद भक्तों के प्रेम वश श्री प्रभु जी ने फिर आने का वचन दिया था। अकस्मात् भक्त प्यारे लाल पटवारी गाँव के बाहर मिले तो विनीत भाव से अपने स्थान पर ठहरा कर सेवा करने लगे। पश्चात् श्री प्रभु जी ने प्रसन्नता से भक्त प्यारे लाल को आज्ञ दी कि हम एकान्त वास चाहते हैं, इसलिए तुम एक गुफा तैयार कराओ और उसके साथ एक तालाब भी बनवाओ, जिसमें हम स्नान कर सकें। भक्त प्यारे लाल ने अपने बाग में एक तालाब खुदवाया और श्री प्रभु जी ने नीमों के नीचे कंकरीली जमीन में गुफा बनाने की आज्ञा दी। बाद में यह सिद्ध गुफा के नाम से विख्यात हुई।

गुफा और तालाब में शक्तिपात–

श्री प्रभुजी ने भक्तों के प्रेम भाव से प्रसन्न होकर तालाब में शक्तिपात किया कि इस तालाब में जो भी चर्मरोगी और सूखे का रोगी स्नान करेगा वह ठीक हो जाएगा। जो गुफा की पवित्र रज का सेवन करेंगे उनके सब प्रकार के दुख दूर हो जाऐंगे। ऐसा करने वाले सैंकड़ों रोगी ठीक हुए।

श्री प्रभु जी के दो कुत्ते–

यहाँ जिस स्थान पर श्री प्रभु जी धूनी लगाकर बैठा करते थे, वहाँ पर दो कुत्ते निरन्तर उनकी सेवा में बैठे रहते थे। इन कुत्तों को श्री प्रभु जी की इच्छाओं का बराबर ज्ञान रहता था। श्री प्रभुजी का आदेश था कि उनके पास कोई स्त्री नहीं आ सकती थी और न स्त्री के हाथ का भोजन किया करते थे। अगर कोई स्त्री बाबा के बाग में आती तो दोनों कुत्ते भाग कर उसे काट लेते। अब आश्चर्य यह था कि कोई ज्ञात अथवा अज्ञात पुरुष आता तो कुत्ते चुपचाप बैठे रहते थे।

श्री महादेव जी के रूप में प्रभु दर्शन–

एक बार सूर्योदय से पहले कुछ भक्त श्री प्रभु जी के दर्शन की तीव्र अभिलाषा लिए गुफा द्वार तक पहुँचे तो देखा–सामने श्री प्रभु जी विराजमान हैं–जटाएं नीचे तक

लटकी हुई है, सुन्दर व्याघ्र चर्म कोटि प्रदेश में बन्धा है, हजारों सर्प गले में, सिर पर, जंघा से स्कन्ध पर्यान्त यज्ञोपवीत से लिपटे हुए हैं। दाएँ और बाएँ भुजाओं पर दो सर्प फन उठाए उत्कार कर रहे हैं। इस भयंकर दृश्य को देखकर वे निराश होकर पीछे हट गए और वापिस लौटने लगे। तब श्री प्रभु जी ने उनको बुला कर कहा—"भाई डरो मत, किन्तु आगे से तुम सूर्योदय से पहले मेरे पास नहीं आना।"

विश्व रूप दर्शन—

श्री प्रभु जी ने अनन्य सेवक भक्त प्यारेलाल और ठा. कर्ण सिंह के मन में श्री प्रभु जी के अलौकिक ऐश्वर्य के दर्शन की बड़ी तीव्र लगन थी। एक दिन श्री प्रभु जी को प्रसन्नचित्त देख दोनों ने अपने भाव श्री चरणों में व्यक्त किए। श्री प्रभु जी इनके विशुद्ध प्रेम भाव देख कर मुस्काए और कहा कि "आकाश की ओर देखो।" उन्होंने अद्‌भुत आश्चर्य देखा। जो श्री प्रभु जी सामने विराजमान थे, वही आकाश में विश्व रूप में समाए हुए हैं। उनके सहस्त्रों मुख, सहस्त्रों भुजाएँ हैं। जिस अंग को देखते उसी अंग में बड़े-बड़े अद्‌भुत दृश्य दिखाई देते थे। कहीं पर दिव्य तेजस्वी ऋषि मुनि स्तुति कर रहे हैं, कहीं पर देव कन्याएँ मंगल गान कर रही हैं, कहीं आरती कर रहे हैं, कहीं वेद ध्वनि हो रही है, कहीं भृंगीनाद हो रहा है, कहीं धारा प्रवाह दिव्य पुष्प वर्षा हो रही है। श्री प्रभु जी कभी द्विभुज, कभी चतुर्भुज, कभी सहस्त्र भुज दृश्य मान हो रहे हैं.....। श्री प्रभु जी ने उनको भयभीत व चकित देख उस अलौकिक दृश्य को अन्तर्हित कर दिलया। पुनः उसी रूप में होकर उनको सांत्वना दी कि भई डरना नहीं चाहिए, ये दृश्य तो बड़ी कृपा से देखने को मिलते हैं। इस घटना के बाद वह दोनों श्री प्रभु जी सेवा में अधिक से अधिक समय लगाकर अपना जीवन सफल बनाने लगे।

(क्रमशः)

जितना ही अधिक मनुष्य अपने अन्तर में मिलने लगता है और अन्तःकरण से सरल और पवित्र हो जाता है, उतनी ही अधिक ऊँची चीजें वह बिना परिश्रम के समझने लगता है, क्योंकि उसे परमात्मा ही अन्तः प्रकाश प्रदान करते हैं।

आसक्ति ही दुख का कारण है

श्री वासुदेव शर्मा

मनुष्य अन्य जीवधारियों से मूल प्रवृत्तियों में समान होने पर भी अपनी विचारशक्ति के कारण, उनसे प्रथकता एवं उच्चता रखता है। इसी चिन्तन शक्ति के कारण मनुष्य आदिकाल से ही प्रकृति से संघर्ष करता हुआ, सुख की इच्छा से अधिक से अधिक उपादानों को प्राप्त करता आया है। ये सम्पूर्ण भौतिक प्रगति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। अपने को सुखी बनाने के लिए भौतिक रूप से हम जितने सम्पन्न होते जा रहे हैं मानसिक रूप से उतने ही पतित होते जा रहे हैं।

यद्यपि प्रत्येक आने वाली पीढ़ी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अपने को अधिक प्रगतिशील समझती है। लेकिन आभ्यान्तर प्रगति के अभाव में हम प्रचुर भौतिक सामग्री के होते हुए भी दुःख, भय, कुण्ठा, निराशा की ज्वाला में भस्म होते जा रहे हैं। इस भौतिकता की दुनियाँ में हम जितना अधिक दुःखों से निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं उतनी ही अशान्ति हाथ लगती है। इसका कारण बुद्धि की अनुपयोगिता ही है। अपने को सुखी बनाने के लिए हम बाह्य वस्तुओं के पीछे पड़े हुए हैं, अपने को बदलने की बजाय वस्तुओं को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं लेकिन सुख बाहरी वस्तुओं पर नहीं बल्कि अपने स्वयं के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। इसी कारण से एक ही वस्तु किसी व्यक्ति को सुख देती है और किसी को दुःख।

सुख आन्तरिक भाव है। सुख की धारा अन्दर से प्रवाहित होती है। जीवन के प्रति एकांगी दृष्टिकोण ही दुःख का कारण है। बुद्धि की उपयोगिता तभी है जब व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो, भौतिक प्रगति के साथ–साथ आध्यात्मिक प्रगति भी आवश्यक है। अपनी अज्ञानता के कारण ही आज हमने अपने चारों ओर का वातावरण इस प्रकार का बना लिया है कि मनुष्य एक मशीन मात्र बन कर रह गया है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के व्यवहार पर अचेतन मन का प्रभाव पड़ा रहता है।

मानव शिशु के रूप में जब पृथ्वी पर आता है तो उस समय की कितनी विक्षेप रहित अवस्था होती है न कोई अपना होता, न पराया, न किसी से राग न द्वेष, इसलिए न किसी से सुख होता है और न दुःख। परन्तु ज्यों–ज्यों ज्ञान तन्तु विकसित होते जाते हैं, स्मृति बढ़ती जाती है, हम सोचते हैं यह मेरी माता हैं, ये पिता हैं, ये भाई हैं, ये

सम्बन्धी हैं और उनके प्रति राग की भावना विकसित होती जाती है। उनके शत्रुओं को हम अपना शत्रु समझने लगते हैं और उनके सुख, दुःख से हम भी सुखी और दुःखी होते रहते हैं। वस्तुतः सांसारिक सुख और दुःख का कारण हमारी वासनिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण आसक्ति उत्पन्न होती है।

आसक्ति ही बन्धन है, जोकि दुःख का कारण है। आत्मा असीम है, सर्वव्यापी है। जो असीम है उसे सर‍्प बना लेना ही उसकी पराधीनता है। इस पराधीनता में सुख नहीं मिल सकता। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी भी लिखते हैं—

''पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।''

सांसारिक वस्तु जितना सुख देती है उतना ही दुःख देती है। वस्तु के संयोग से सुख मिलता है तो उसके वियोग से ही दुःख होता है। वस्तुओं की सत्ता क्षणिक होने के कारण उनसे बनाये गये सम्बन्ध भी क्षणिक हैं। यह दुनिया एक रेल के डिब्बे के समान है जहाँ हम कुछ ही क्षणों के लिए एकत्र होते हैं। अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किन्हीं से हम मित्रता कर लेते हैं और किन्हीं से शत्रुता। लेकिन चाहे मित्र हो या शत्रु, अपना हो या पराया, सभी को अपने-अपने स्टेशन पर उतरना ही पड़ेगा। ये मिलन क्षणिक हैं। अपनी आसक्ति के कारण इस सम्बन्ध को स्थायी मान लेना ही दुःख का कारण है।

भारतीय दर्शन इसलिए शरीर से ऊपर उठकर आत्मा को जानने का उपदेश करता है। बौद्ध-दर्शन केवल दुःख की निवृत्ति को ही मनुष्य का लक्ष्य मानता है। भगवान बुद्ध कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को कैवल्य अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि वह अवस्था ही दुःखों से मुक्त अवस्था है।

प्रश्न उठता है कि आखिर इस आसक्ति का कारण क्या है ? क्यों मनुष्य वस्तुओं में राग-द्वेष उत्पन्न करके दुःख भोगता है। महर्षि पतंजलि इस आसक्ति का कारण अविद्या मानते हैं—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्।। *(योगदर्शन)*

जो वस्तु क्षणिक है उसे स्थाई मान लेना तथा जो परिणाम में दुःख रूप है उसे सुखरूप समझना ही अविद्या है। अपने विषयों में बिना किसी रुकावट के प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियों का स्वभाव है। क्योंकि अनादि काल से जीव इन इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगता आया है इस कारण इन्द्रियों की उनमें आसक्ति हो गई है।

अपनी वासनिक प्रवृत्ति के कारण मनुष्य बौद्धिक प्राणी होते हुए भी अपने

क्रियाकलापों में बुद्धि का कम ही उपयोग करता है। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की अधिकांश क्रियायें संवेगों (emotions) और प्रेरणाओं (moboations) द्वारा प्रतिचालित होती हैं। संवेग मनुष्य के व्यवहार की एक इस प्रकार की शृंखला बना देते हैं कि मनुष्य उसमें बँधता चला जाता है। एक व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के प्रेम के कारण उनको सुखी बनाने के लिए कितने-कितने हवाई महल बनाता रहता है सोचता है यह मेरा बच्चा है। इसका अच्छी प्रकार पालन-पोषण करूँगा, खूब पढ़ाऊँगा, पढ़कर बड़ा ऑफिसर बनेगा, फिर शादी होगी, और फिर उसके बच्चे होंगे, इस प्रकार उसकी कल्पनाओं का अन्त नहीं होता। दिन-रात इन्हीं कल्पनाओं के वश हुआ अपनी दैनिक क्रियाओं को करता रहता है। लेकिन सभी जानते हैं कि इस दुनिया में हम जो चाहते हैं वह होता नहीं, जो होता है वह भाता नहीं, और जो भाता है वह रहता नहीं, फिर भी रहट के ऊँट की तरह आँखों पर पट्टी बाँधे हुए सांसारिक भोगों की कामना में हम सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण इस प्रकार के मनुष्यों के व्यवहार को दर्शाते हुए कहते हैं–

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सज्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने मात्र से उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है कामना पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध प्रबल संवेग है जिसकी अधिकता मनुष्य को अचेतन में पहुँचा देती है जिसके कारण मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य की विवेक शक्ति समाप्त हो जाती है। मनुष्य अपना सन्तुलन खो देता है। स्मृति में भ्रम हो जाता है और स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है और ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाने पर मनुष्य विनाश को प्राप्त होता है। सम्पूर्ण जीवन इन्हीं सांवेगिक क्रियाओं में व्यतीत हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि आसक्ति रूपी बन्धन से मुक्त होने का क्या उपाय है। इस आसक्ति के बन्धन से मुक्त होने के लिए इसके कारण रूप अविद्या को जानना आवश्यक है अर्थात् वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष हमारी वासनिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। ये वासनायें ही मनुष्य की सबसे

बड़ी शत्रु हैं जिनके कारण मनुष्य क्षणिक सुख के लिए स्थाई सुख को खो बैठता है और दुख भोगता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है। श्री भर्तृहरि जी ने भर्तहरि शतक में भोगों के क्षणिक सुख में फँसे हुए लोगों की दुर्दशा का वर्णन किया है–

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।।
कालो न यातो वयमेव याताः।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

अर्थात् हमने भोगों को भोगा नहीं लेकिन भोगों ने ही हमें भोग लिया, हमने तप नहीं तपा बल्कि तपों के द्वारा हम ही तप गये। काल समाप्त नहीं हुआ, हम ही समाप्त हो गये। तृष्णा समाप्त नहीं हुई, लेकिन तृष्णा ने हमें ही समाप्त कर दिया। हम लोग कितने भ्रम में डूबे हैं ? अपने विनाश में ही सुख मान रहे हैं। जिस प्रकार से कुत्ता मुख में हड्डी को चबाकर अपने मुख से ही रक्त निकालता हुआ सोचता है कि हड्डी से रक्त निकल रहा है और उसको चबाने में ही आनन्द मानता है। बिल्कुल यही दशा भोगों में सुख ढूँढने वाले मनुष्य की है। इस प्रकार विषयों के यथार्थ स्वरूप को जानकर–"विषयेषु दोष दर्शनम्" (विषयों में दोष देखते हुए) इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोक देना, उनमें विषयासक्ति का अभाव कर देना, यही इन्द्रियों का उनके विषयों से सर्वथा निगृहीत कर लेना है। योगेश्वर श्रीकृष्ण इन्द्रिय सुखों से वितृष्ण होने का मार्ग बताते हुये बुद्धि को स्थिर अवस्था को प्राप्त करने के लिए कहते हैं–

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणी तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

अर्थात् साधक को चाहि कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे। क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है। ध्यान का प्रक्रिया पूर्णता की ओर ले जाती है। क्योंकि सर्वव्यापी ईश्वर ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं उनका स्मरण, चिन्तन और ध्यान ही पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का साधन है। उस समत्व स्थिति को प्राप्त कर लेने पर किसी भी प्रकार का सांसारिक सुख अच्छा नहीं लगता। इसलिए अनासक्ति के लिए इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन को परमात्मा के ध्यान में लगाना आवश्यक है अन्यथा इन्द्रियाँ विषयों की ओर कभी भी आकर्षित हो सकती हैं। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान उपदेश करते हैं–

विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्तते।।

अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने पर पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्ति नहीं होती तथा परमात्मा का ध्यान करने वाले पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। क्योंकि बड़े सुख को प्राप्त करके मनुष्य छोटे सुख को छोड़ देता है उसी सत् चित् आनन्द को प्राप्त करने पर विषयों में आसक्ति रहती ही नहीं और यही दुःख निवृत्ति का उपाय है।

सातत्य–योग, राज–योग, समर्पण–योग

सातत्य–योग का अर्थ है–अपनी साधना को अन्तकाल तक सतत् चालू रखना। जिस रास्ते पर एक बार चल पड़े, उसी पर लगातार कदम बढ़ाते जाना। कभी चले, कभी नहीं, ऐसा करने से मंजिल पर पहुँचने की कभी आशा नहीं हो सकती। ऊबकर निराशा से कभी यह न सोचना चाहिए कि अब कहाँ तक साधना करते रहें। जब तक फल न मिले, तब तक साधना जारी रखनी चाहिए।

इस सातत्य–योग का परिचय देकर गीता के अध्याय में बहुत मामूली, परन्तु जीवन का सारा रंग ही बदल देने वाली एक बात भगवान ने बताई है, और वह है राजयोग। नवाँ अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घड़ी होते हैं, वे सब ईश्वरार्पण कर दो। इस एक ही बात में सारे शास्त्रसाधन, सब कर्म–विकर्म डूब गये। सब कर्म–साधना इस समर्पण–योग में विलीन हो गयीं। समर्पण–योग को ही राज–योग कहते हैं। यहाँ सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पणरूपी साधन यों बहुत सादा और मामूली दिखता है, परन्तु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि अपने ही घर में बैठकर गँवार से लेकर विद्वान तक सब बिना विशेष श्रम के इसे साध सकते हैं। हालांकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधने के लिए बड़े भारी पुण्य की जरूरत है।

–आचार्य विनोबा

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

दान का स्वरूप

प्रेषक—कृष्ण कुमार पाण्डेय, गोरखपुर

हमारे धर्मग्रन्थ दूरगामी परिणाम वाले हैं। इसलिए हर काल के लिए प्रासंगिक है। हमारा मन कैसा है। उसी परिणाम के अनुसार किसी को ग्रहण करता है। पद्म पुराण में दान के बारे में विस्तृत चर्चा किया गया है। दान के प्रसंग में भगवान व्यास जी द्विजवरों के सत्संग में यह प्रसंग सुनाया, वही प्रेरक प्रसंग हम सब को सद्मार्ग में प्रवृत्त करें। जिससे सद्गुरु के उपदेशों को आचरण में उतारने का प्रयास हो सके।

सत्संग के क्रम में व्यास जी ने उपस्थित समुदाय से कहा कि—पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ब्रह्मवादी ऋषियों को उपदेश किया था। दान के क्रम में कहा कि—योग्य एवं पात्र को ही श्रद्धापूर्वक धन का अर्पण करना दान कहलाता है। दान के तीन विधि बताये—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। एक चौथा दान भी है जिसे विमल दान कहते हैं। यह विमल दान जैसा नाम वैसा काम अर्थात् सर्वोत्तम माना गया है। अब क्रमशः चारों दानों का स्वरूप बताते हुए कहा कि—जिसका अपने ऊपर कोई उपकार न हो ऐसे ब्राह्मण को फल की इच्छा न रखकर प्रतिदिन जो कुछ दिया जाये वह नित्यदान है। लेकिन जो पापों की शान्ति के लिये विद्वानों के हाथ में अर्पण किया जाता है। उसे श्रेष्ठ पुरुषों ने नैमित्तिक दान कहा है। जो दान सन्तान विजय, ऐश्वर्य और सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से दिया जाता है। उसे धर्म का विचार करने वाले ऋषियों ने काम्य दान बताया है। किन्तु जो परमात्मा की प्रसन्नता हेतु धर्मयुक्त चित्त से ब्रह्मवेत्ता पुरुषों को कुछ अर्पण किया जाता है। वह कल्याण मय दान विमल माना गया है।

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं दानगुच्यते।
चतुर्थं विमलं प्रोक्तं सर्वदानोत्तमोत्तमम।।
अहन्यहनि यत्किंचित् दीयतेऽनुपकारिणे।
अनुदिश्य फलं तस्माद ब्राह्मणायतु नित्यकम्।।
यत्तु पापो पशान्त्यर्थं दीयते विदुषां करे।
नैमित्तिकं तदुद्दिष्टं दानं सद्भिरनुत्तमम्।।

अपत्यविजयैश्वर्यसुसार्थं   यत्प्रदीमते–
दानं तत्काम्यमाख्यातमृषिभिधर्मचिन्तकैं।।
यदीश्वरस्य प्रीत्यर्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते।
चेतसा धर्मयुक्तेन दानं तद् विमलं शिवम्।।

।। पद्मपुराण।।

सुयोग्य एवं पात्र को अपनी शक्ति के अनुसार दान अवश्य करना चाहिए। गृहस्थ को अपने कुटुम्बियों को भोजन और वस्त्र से जो शेष बचे उसमें से दान देना चाहिए। क्योंकि परिवार का भरण पोषण तो अत्यन्त आवश्यक है।

श्रोत्रियाय कुलीनाय विनीताय तपस्विने।
व्रतस्थाय दरिद्राय प्रदेयं भक्ति पूर्वकम्।।

अर्थात् वेदपाठी कुलीन, विनम्र, तपस्वी व्रत परायण एवं दरिद्र को श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए।

दान करने का परिणाम तथा किसका किस प्रकार का दान करने से कौन फल प्राप्त होगा। इसकी चर्चा करते हुए सत्संग को आगे बढ़ाते हुए बताया। व्यास जी ने कहा कि–जो अग्नि हो तो ब्राह्मण को भक्ति पूर्वक पृथ्वी का दान करता है। वह परमधाम को प्राप्त होता है। जहाँ जीव का कोई शोक नहीं होता है। जो वेद वेत्ता ब्राह्मण को गन्नों से भरी, जौ और गेहूँ की फसल से युक्त भूमिदान करता है। वह इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता है। जो दरिद्र ब्राह्मण को गौ के चमड़े के बराबर भूमि दान करता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। भूमि दान सबसे बड़ा दान है। किन्तु विद्या दान को भी सभी दानों में श्रेष्ठ कहा गया है। क्योंकि नित्यानित्य विवेक का ज्ञान विद्या से ही होता है। दान के कुछ स्वरूपों की चर्चा किया गया है। साधक को पद्मपुराण का स्वाध्याय के फलस्वरूप दान के यथार्थ स्वरूप का बोध होगा। गृहस्थ धर्म में जहाँ से सबका भोजन चलता है। वह गृहस्थ तो अनजान में ही विभिन्न प्रकार के दान कर देती है। जिसका उसको आभास भी नहीं होता है। इसीलिए गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ धर्म माना गया है।

इसके अतिरिक्त जलदान का भी महत्त्व है। तेल दान करने वाले को अनुकूल संतान तथा दीप दान करने वाले का उत्तमनेत्र की प्राप्ति होती है। गृह दान करने वाले को श्रेष्ठ भवन तथा चाँदी दान करने वाले को उत्तम रूप मिलता है। वस्त्र दान करने

वाला चन्द्रमा के लोग में जाता है। इसी प्रकार दान के विभिन्न विधि और फल पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड में है। दान के बारे में गीता में भी बताया गया है। जहाँ भगवान श्री कृष्ण ने राजस तामस और सात्विक दान के बारे में बताया है–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे कालेच पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतंम।।

।। 17/20

यक्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसंस्मृतम्।।

।। 17/21

अदेशकाले यद्दानमपत्रिभ्यश्च दीयर्त।
असत्कृतमवज्ञातं तन्तामससमुदाहृतम्।।

।। 17/22

गीता में दान के बारे में जो बताया गया है उसके लिए गीताप्रेस की **गीतातत्त्वविवेचनी** पुस्तक सुधी पाठक अध्ययन कर लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

निष्कर्ष रूप से यह कहना उचित होगा कि दान भी जीवन का अभिन्न हिस्सा है। सत्पथ पर अग्रसर होने के लिए शास्त्र सम्मत समस्त कार्य करते रहना चाहिए। सद्गुरुदेव भगवान योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज जी तो सदैव हम साधकों को तीव्र संवेग से साधना का उपदेश देते रहे। लेकिन हम सब ठहरे कलियुगी निठूले तो यह देखकर यह भी कहते केशव कहकर कूकिये ना सोइये असरार। रात दिवस के कूकणे कबहूँ लागी पुकार (सो हम सब ऐसे ही हैं। लेकिन शेर के बच्चे हैं शेर ही रहेंगे।)

आश्रम समाचार

गुरु पूर्णिमा पर्व श्रद्धा–भक्तिपूर्वक मनाया गया

श्री गुरु पूर्णिमा का पावन महोत्सव श्री सिद्ध गुफा संवाई आश्रम में 3 जुलाई 2023 को गत वर्षों की भाँति, श्रद्धा, भक्ति–भाव के साथ उत्साह पूर्वक मनाया गया। दूर–दूर से आये गुरु भक्तों–साधकों ने पूजा–अर्चना संकीर्तन, ध्यान कर अध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया। श्री प्रभु जी और सद्गुरु देव जी महाराज की कृपा का आनन्द लिया।

हमारे धर्म ग्रन्थों में गुरुदेव की महिमा सर्वत्र बताई गई हैं। शिष्य के लिए गुरु पूर्णिमा का पर्व विशेष महत्व रखता है।

रुद्र यज्ञ के लिए अरुणी मन्थन से मंत्रोच्चारण के साथ अग्नि प्रज्ज्वलित की गई। श्री प्रभु श्री रामचन्द्र जी महाराज और सद्गुरुदेव श्री चन्मोहन जी महाराज की कृपा–आशीर्वाद से 15 जुलाई को यज्ञ की पूर्णाहूति के साथ अनुष्ठान सकुशल सम्पन्न हुआ। इस दौरान साधकों को दिव्य अनुभूतियाँ हुईं।

अनुष्ठान के पूर्ण होने के अवसर आश्रम को विशाल भण्डारे में बड़ी संख्या में साधकों–भक्तों ने प्रसाद ग्रहण किया और आध्यात्मिक ऊर्जा के साथ अपने घरों को प्रस्थान किया।

5 से 15 जुलाई तक रुद्राभिषेक–रुद्र यज्ञ सम्पन्न अरणी मन्थन से यज्ञ–अग्नि प्रज्ज्वलित

श्रीसिद्धगुफा संवाई आश्रम में 5 जुलाई से 15 जुलाई 2023 तक रुद्राभिषेक–रुद्रयज्ञ का अनुष्ठानपूर्वक आयोजन योगी आचार्य डा. दासलाल जी के कुशल मार्ग निर्देशन में सम्पन्न हुआ। अनुष्ठान में लगभग 250 साधक सम्मिलित हुए।

इस अवसर पर यज्ञशाला में आचार्य बैकुण्ठ नाथ शर्मा के आचार्यत्व में 15 वेदपाठी ब्राह्मणों ने पूजन कराया। प्रतिदिन प्रातः 8 से 9 बजे विशेष पूजन, प्रातः 10 से 12 बजे रुद्राभिषेक–पूजन, अपराह्न में 3 से 5 रुद्राभिषके–पूजन आरती के कार्य सम्पन्न हुए। आचार्य डॉ. दासलाल जी प्रमुख यजमान के रूप में आयोजन में उपस्थित रहे। अनुष्ठान के दौरान पयज्ञशाला में अनेक साधक ध्यानस्थ देखे गये। आश्रम की प्रातः और रात्रि में श्री सिद्ध गुफा पर होने वाली आरती, ध्यान और योगासन क्लास में भी साधकों ने श्रद्धापूर्वक भाग लिया।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

दृढ़ संकल्प–सफलता का मूल मंत्र

श्री गुरुदेव भगवान का एक अकिंचन बालक–अन्तू राम यादव, प्रयागराज
फोन–9936678368, 7376691758

प्रातः स्मरणीय हम सबके प्राण धन सर्व समर्थ अन्तर्यामी योग योगेश्वर आनन्द कन्द अनन्त श्री दादा गुरुदेव एवं सद्गुरुदेव भगवान के पावन कमलवत् चरणों में कोटिशः नमन और सभी आदरणीय भाई–बहनों को सादर जयगुरुदेव। ऐसा देखा सुना जाता है कि प्रायः कुछ साधकों के मन में स्वाभाविक रूप से दो प्रश्न उठते रहते हैं। पहला प्रश्न अधिक दिनों से भजन, ध्यान–साधना कर रहे हैं किन्तु भजन का कुछ लाभ दिखता नहीं है। दूसरा–प्रश्न–वह कौन सा माप–दण्ड है जिससे हम यह जान सकें कि हमारी साधना में प्रगति हो रही है अथवा हमारी साधना सही दिशा में चल रही है। श्री सद्गुरु भगवान के श्री चरणों का चिन्तन करते हुए आइए, आज इन्हीं दो प्रश्नों पर कुछ विचार करने का प्रयास करें।

एक बार एक शिष्य ने स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज से पूछा–गुरुदेव! भजन तो वर्षों से करते आ रहे हैं परन्तु लाभ कुछ दिखता नहीं। स्वामी जी ने कहा–इसका सीधा–साधा उत्तर तो यही है कि भजन के बदले जो लाभ देखना चाहता है वह तो व्यवसायिक यानी बनियाँ है जो इस हाथ से लेता है और दूसरे हाथ से देता है। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भी ऐसे विचार वाले व्यक्ति को व्यवसायिक बुद्धि वाला कहा है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ऐसे विचार वाले व्यक्ति को पटवारी बुद्धिवाला कहा है। स्वामी जी ने आगे कहा कि भजन का लाभ दिखने वाला नहीं बल्कि अनुभूति का विषय है। भजन का फल तो भजन ही है। भजन का लाभ है–संसार के प्राणी–पदार्थों के प्रति आसक्ति से विरक्ति का होना और भजन का लाभ है–निरन्तर गुरुदेव भगवान के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम का उत्तरोत्तर बढ़ता जाना।

एक जिज्ञासु साधक ने एक सन्त से पूछा–महाराज! हम यह कैसे जानें कि हमारी साधना में प्रगति हो रही है अथवा हमारी साधना सही दिशा में चल रही है। इस प्रश्न के उत्तर सन्त ने कहा–बेटा! तुम्हारा जीवन अगर उत्तरोत्तर सरल एवं विनम्र होता जा रहा हो, तुम्हारी वाणी अगर निरन्तर मधुर होती जा रही हो, तुम्हारे जीवन में धैर्य, विश्वास, श्रद्धा, क्षमाभाव एवं सहनशीलता का अगर निरन्तर प्रवाह बढ़ता जा रहा हो तो समझ लेना तुम्हारी साधना में प्रगति भी हो रही है और तुम्हारी साधना भी सही दिशा में चल रही है। साधना की प्रगति एवं सही दिशा को मापने का केवल यही मापदण्ड है। इसी कड़ी में सन्त श्री ने जिज्ञासु साधक से छः प्रश्न किया। वे इस प्रकार है–

(1) वह क्या है जो मनुष्य को अपने कार्य पर दृढ़तापूर्वक जमा देती है।

(2) वह क्या है जिससे मनुष्य निराशा के अन्धकार में रहते हुए भी आशा के प्रकाश की झलक देखा करता है।

(3) वह क्या है जो मनुष्य को विपत्ति सहने में धैर्य देता है।

(4) वह क्या है जो दुख में भी मनुष्य को सुख एवं आनन्द की अनुभूति कराता है।

(5) वह क्या है जो दरिद्रता के पंजे में फँसे हुए मनुष्य को आश्वासन एवं सांत्वना देता है।

(6) वह क्या है जो लाखों विपत्तियों से घिरे होने पर भी मनुष्य को धैर्यपूर्वक खड़े रहने का बल देता है।

इन छः प्रश्नों को सुनकर जिज्ञासु साधक ने कहा—महाराज! मैं तो अल्पज्ञ हूँ, इन प्रश्नों का उत्तर आप ही बताने की कृपा करें। सन्त ने कहा—बेटा! इन सभी प्रश्नों का केवल मात्र एक ही उत्तर है और वह है—''दृढ़ संकल्प''। सन्त ने कहा कि दृढ़ संकल्प में एक ऐसी अद्भुत शक्ति होती है जिसका आश्रय लेकर भौतिक एव आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में सफलता निश्चित रूप से मिलती ही मिलती है। दृढ़ संकल्प के बिना किसी भी क्षेत्र में किसी को अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकती। साधना के क्षेत्र में अगर साधक अपेक्षित सफलता चाहता है तो उसे आज ही से गुरुदेव की आज्ञानुसार निश्चित समय से निश्चित समय तक, निश्चित स्थान पर, निश्चित एवं स्थिर आसन से, निरन्तर और दीर्घकाल तक जप–ध्यान करने का दृढ़ संकल्प ले लेना चाहिए।

जिज्ञासु के हृदय में दृढ़ संकल्प के प्रति भाव जागृत करने के लिए सन्त ने कहा—बेटा! यों तो दृढ़ संकल्प के साथ अध्यात्म के उच्चतम् शिखर पर पहुँचने वाले साधकों के अनेक उदाहरण हैं किन्तु दृढ़ संकल्प वाले एक छोटे से बच्चे की कथा सुनाता हूँ। ऋषि अगस्त महाराज का एक छोटी उम्र का शिष्य था, उसका नाम सुतीक्ष्ण था। एक बार ऋषि महाराज को किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना था। गुरुदेव ने अपने शिष्य–सुतीक्ष्ण से कहा—बेटा! सालिग्राम भगवान की पूजा समय से किया करना। गुरुदेव प्रतिदिन स्नान करा कर तब सालिग्राम के विग्रह स्वरूप की पूजा किया करते थे। सुतीक्ष्ण ने सोचा आज सालिग्राम भगवान को क्यों न गंगा स्नान करा ले आवें। जब वह बालक भगवान को स्नान करा रहा था, अचानक श्री विग्रह (पिण्डी) हाथ से छूट गया और गंगा की तेज धारा में बह गया। बालक सुतीक्ष्ण करता भी क्या ? निराश होकर आश्रम लौट आया।

इधर जब गुरुदेव आश्रम पर आये तो भगवान का श्री विग्रह न पाकर शिष्य–सुतीक्ष्ण के ऊपर बहुत नाराज हुए और कहे कि तुम अभी मेरे आश्रम से चले जाओ। जब तक तुम मेरे भगवान को लेकर नहीं आओगे तब तक मेरे आश्रम में कदम न रखना और अपना मुँह न दिखाना। गुरुदेव के ऐसे कठोर वचन सुनकर शिष्य का हृदय दहल उठा। शिष्य सुतीक्ष्ण ने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य करके इस दृढ़ संकल्प के साथ आश्रम छोड़ा कि मैं भगवान को लेकर ही इस आश्रम में कदम रखूँगा। इससे पहले मैं गुरु जी को अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा चाहे मेरे शरीर रहे या न रहे मैं अपना अभीष्ट कार्य करके ही रखूँगा। हमारे गुरुदेव भगवान भी प्रायः कहा करते थे कि—**''कार्यम् वा साधेयम्, देहम् वा पातेयम्''** ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

अगस्त ऋषि के आश्रम से दूर सुतीक्ष्ण ने एक कुटिया बनाई और भगवान की आराधना में तन, मन एवं दृढ़ संकल्प के साथ जुट गये। कभी अल्प–आहार, कभी फलाहार, कभी जलाहार, कभी पौधों के हरे पत्तों का आहार लेते हुए वे अपनी साधना में लगे रहे। इस प्रकार दिन, महीना, वर्ष बीतते गये। कुछ समय बाद भगवान श्रीराम, सीता एवं लक्ष्मण के साथ अपने वनवास काल में वन में भ्रमण करते हुए अगस्त ऋषि के दर्शनार्थ उनके आश्रम को तलाश रहे थे। भ्रमण करते हुए वे सुतीक्ष्ण की कुटिया के पास से गुजर रहे थे। अचानक भगवान श्रीराम बोले–लक्ष्मण! एक मेरा भक्त मेरी याद में काफी दिनों से कठिन तप कर रहा है, मुझे उससे मिलना है। भगवान स्वयं चलकर भक्त सुतीक्ष्ण की कुटिया में जाकर दर्शन दिये। भगवान का दर्शन पाकर सुतीक्ष्ण धन्य हो गया। भगवान श्रीराम ने सुतीक्ष्ण से ऋषि अगस्त के आश्रम का रास्ता पूछा। सुतीक्ष्ण ने मन ही मन विचार किया कि आज मेरा तप सफल हुआ। आज वह शुभ दिन आ गया है जब मैं अपने गुरुदेव का दर्शन करूँगा और अपना भी मुँह उन्हें दिखाऊँगा। सुतीक्ष्ण ने कहा–भगवन्! मैं भी काफी दिनों से गुरुदेव के आश्रम पर नहीं गया, मैं स्वयं आप को लेकर गुरुदेव के आश्रम पर चलूँगा।

भक्त वत्सल भगवान अपने भक्त की मनोकामना पूरी करने के लिए सुतीक्ष्ण के साथ अगस्त ऋषि के आश्रम की ओर चले। आश्रम के मुख्य द्वार पर पहुँच कर सुतीक्ष्ण ने आवाज लगाई–गुरुदेव! मैं भगवान को लेकर आ गया हूँ अब अपने आश्रम में कदम रखने के लिए मुझे आज्ञा दीजिए। सुतीक्ष्ण की आवाज सुनते ही अगस्त जी दौड़ कर अपनी कुटिया से बाहर आये। द्वार पर सुतीक्ष्ण के साथ भगवान श्रीराम सीता एवं लक्ष्मण को देख कर अगस्त जी आत्म–विभोर हो गये और भगवान श्रीराम के चरणों से लिपट गये। भक्त वत्सल श्रीराम ने उन्हें उठाकर अपनी छाती से लगा लिया और आश्रम में आने का अपना प्रयोजन विस्तार से सुनाया। उसके बाद ऋषि अगस्त ने सुतीक्ष्ण को अपने हृदय से लगाकर कहा–बेटा! अब तक गुरु अपने शिष्य को भगवान से मिलाया करते थे परन्तु आज तुम ऐसे विलक्षण शिष्य निकले जिसने भगवान को अपने गुरु से मिला दिया। इस अद्भुत कार्य के लिए तुम युगों–युगों तक आदर के साथ याद किये जाओगे। यह केवल मात्र शिष्य सुतीक्ष्ण के दृढ़ संकल्प का ही चमत्कार था।

हम सभी साधकों को अपने जीवन में अपेक्षित सफलता के लिए निरन्तर गुरुदेव भगवान के श्रीचरणों का निरन्तर चिन्तन करते हुए दृढ़–संकल्प का आश्रय लेकर अपनी साधना में तन–मन से जुट जाना चाहिए। यदि हम साधक ऐसे तीव्र संवेग से साधना में लगेंगे तो मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि सद्गुरु भगवान की करुणा–कृपा से भजन का लाभ दिखेगा भी और मिलेगा भी। लेख में हुई त्रुटियों के लिये क्षमा–याचना करते हुए निम्न पंक्तियों के साथ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ। हे सद्गुरु नाथ! **सादर जयगुरुदेव!**

वेदान्त, सिद्धान्त और व्यवहार

—श्री स्वामी शारदानन्द जी

भारत में यह श्रेष्ठ वेदान्त दर्शन हजारों पहले प्रकाश में आ चुका था, पर इसका आविर्भाव कब हुआ, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित काल निर्धारित करना कठिन है। इनका अस्तित्व हम बौद्ध धर्म तथा बौद्धकाल पूर्व के दो महाकाव्य–रामायण और महाभारत के भी बहुत पहले पाते हैं। भारत में विद्यमान सभी विभिन्न धर्मों तथा मत–मतान्तरों का परीक्षण करने पर हमें वेदान्त के सिद्धान्त उन प्रत्येक में निहित मिलते हैं; इतना ही नहीं, वेदान्त–मत–प्रवर्तक ऋषि अथवा विचार–द्रष्टा तो यहाँ तक साधिकार कहते हैं कि पृथ्वीतल पर इस समय प्रचलित सभी धर्मों में इसके सिद्धान्त विद्यमान हैं और भविष्य में आने वाले सभी धर्मों में भी रहेंगे। वेदान्त जिस लक्ष्य की ओर निर्देश करता है यह वही लक्ष्य है जिसकी ओर सभी धर्म, सभी समाज और सम्पूर्ण मानव–जाति क्रमविकासतत्त्वानुसार ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में अग्रसर हो रही है।

इस दर्शन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति या धर्म–प्रवर्तक द्वारा नहीं हुआ है। जैसा कि 'वेदान्त' शब्द बतलाता है, इसकी रचना वेदों के उत्तरखण्ड अर्थात् ज्ञानकाण्ड के आधार पर हुई है। प्राचीनतम हिन्दू भाष्यकार के अनुसार संस्कृत धातु विद् (जानना) से निष्पन्न वेद' शब्द का अर्थ है समस्त अतीन्द्रिय दिव्य ज्ञान जो मनुष्य को अब तक प्राप्त है तथा जो भविष्य में प्राप्त होगा और जिन ग्रन्थों में यह ज्ञान संचित है, उनके लिए यह बाद में व्यवहृत होने लगा। वेदों के भाष्यकार का यह भी कहना है कि यह दिव्य ज्ञान केवल हिन्दुओं को ही नहीं, अन्य लोगों को भी व्यक्त हुआ होगा और उनका अनुभव भी वेद माना जाना चाहिए। वेद दो बड़े भागों में विभक्त किये गये–

(1) 'कर्मकाण्ड' जो मनुष्य को यह सिखलाता है कि कर्त्तव्य नैतिकता का पालन तथा अन्य अनुष्ठानों द्वारा वह स्वर्ग को–जो कि भोग का उच्च स्थान है–प्राप्त कर सकता है।

(2) 'ज्ञानकाण्ड' जो उसे यह सिखलाता है कि उसका लक्ष्य स्वर्ग का उपभोग भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भी क्षणिक और अनित्य है, वरन् उसका ध्येय यह होना चाहिए कि सर्वविध दृश्यादृश्य जगत से परे होना तथा अपने आप में इस अद्वितीय सर्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना, जो कि समस्त ज्ञान एवं शक्ति का केन्द्र है। अवश्य ही हिन्दुओं को इस दर्शन को अभिव्यक्त करने में सदियों का समय लगा।

दर्शन की चर्चा करते हुए हमें इस बात का सर्वदा ध्यान रखना होगा कि भारत में यह धर्म के विरुद्ध कभी नहीं गया। ये दोनों ही सर्वदा साथ–साथ चलते रहे। समष्टि रूप से मनुष्य के अनुकूल होने के लिए धर्म केवल हृदयग्राह्य ही नहीं, वरन् बुद्धिग्राह्य भी होना चाहिए और इसीलिए उसका अध्यात्म विद्या के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित होना ही आवश्यक है; क्योंकि क्या मनुष्य विचार–आवेग और इच्छाशक्ति का सम्मिश्रण है ? क्या कोई भी एक धर्म जो धन क्षेत्रों मे उसकी सर्वोच्च आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करता, उसे सन्तुष्ट कर सकता है ?

विज्ञान की द्रुतगति और बाह्य तथा भौतिक संसार के अध्ययन द्वारा प्रतिदिन होने वाले उसके आश्चर्यजनक आविष्कार अनेक व्यक्तियों के हृदय में भय उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह सोचने लगे हैं कि दिनोंदिन धर्म की नींव ही उखाड़ी जा रही है और इस आधारशिला पर निर्मित सम्पूर्ण सामाजिक रूपरेखा आसन्न संकट में पड़ गयी है। पर प्राचीन दृष्टाओं ने आभ्यन्तरिक संसार के अध्ययन द्वारा धर्म नैतिकता, कर्त्तव्य तथा संक्षेप में प्रत्येक वस्तु का आधार उस एकता मे पाया जो इस विश्व की पृष्ठभूमि है तथा जो सच्चिदानन्द स्वरूप महासागर है जिससे इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। यदि वे प्राचीन द्रष्टा आज यहाँ होते उन्हें यह देखकर प्रसन्नता होती कि नींव उखाड़ने के बदले विज्ञान धर्म के आधार को इतना सुदृढ़ करता जा रहा है जितना वह पहले कभी नहीं था। क्योंकि यह उसी लक्ष्य–उसी एकता–की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा है। और यह ऐसा ही होना चाहिए; क्योंकि क्या विश्व समष्टि रूप में सम्बद्ध एक और अखण्ड नहीं है ? क्या आन्तरिक और बाह्य रूप में इसका विभाजन स्वेच्छाचारिता नहीं है? क्या बाह्य विश्व का उसके वर्तमान रूप में हमें कभी ज्ञान हो सकता है ? पुनश्त, हम उन प्राकृतिक नियमों की चर्चा करते हैं जो बाह्य जगत् का संचालन करते हैं, किन्तु हमारा मन ही बाह्य विश्व में घटने वाली घटनाओं की शृंखला को एक विशिष्ट पद्धति द्वारा श्रेणीबद्ध करता है। क्या ये प्राकृतिक नियम इस विशिष्ट मानसिक पद्धति के अतिरिक्त और कुछ है ? वेदान्त के अनुसार यह विश्व एक सम्बद्ध समवाय है। बाह्य जगत् से प्रारम्भ कर आप आन्तरिक में तथा आन्तरिक से प्रारम्भ कर बाह्य जगत में पहुँच जायेंगे। सच्चिदानन्द रूपी अनन्त महाराज से यह विश्व प्रकट हुआ है और पुन: उसी में विलीन हो जायेगा। अनन्तकाल से यह विश्व क्रम विकसित और क्रमशः संकुचित होता आ रहा है। इसे हमें एक इकाई के रूप में देखें तो हमें प्रतीत होगा कि इसमें न परिवर्तन हो सकता है न गति। यह पूर्ण है और सर्वविध तथाकथित परिवर्तन इसी में विद्यमान है–फिर भी यह इकाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। परिवर्तन और गति तभी सम्भव हैं जब तुलना का भाव हो, पर तुलना दो या अधिक वस्तुओं में ही हो सकती है। यह

क्रमविकास और क्रमसंकोच वह अभिव्यक्ति और अव्यक्त या बीजरूप में पुनरावर्तन–इस क्रम का किसी समय विशेष में प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसका प्रारम्भ स्वीकार करने का अर्थ होगा सृष्टिकर्ता का प्रारम्भ स्वीकार करना और इतना ही नहीं, यह भी कि वह सृष्टिकर्ता निर्दय और पक्षपाती है जिसने प्रारम्भ में ही इन विभिन्नताओं को जन्म दिया है। फिर एक और कठिनाई उत्पन्न हो सकती है; सृष्टिकर्ता अर्थात् प्रथम कारण सृष्टि द्वारा सम्पूर्ण या असम्पूर्ण बनाया गया होगा। अत: वेदान्त के अनुसार सृष्टि भी उतनी ही नित्य है जितना स्वयं सृष्टिकर्ता; बात केवल इतनी है कि यह कभी व्यक्त अवस्था में रहती है और कभी अव्यक्त अवस्था में। तब इस सृष्टि का, क्रमविकास और क्रमसंकोच के चिरन्तन प्रवाह का तात्पर्य और उद्देश्य क्या है ? वेदान्त इसका जो उत्तर देता है वह यह है कि यह अनन्त ब्रह्म का एक पाया है। सम्पूर्ण अद्वितीय ब्रह्म को बिना असम्पूर्ण बनाये हम उसमें अभिप्राय का आरोप नहीं कर सकते। सृष्टि करने को बाध्य करने के लिए अवश्य ही सम्पूर्ण अनन्त का कोई अभिप्राय नहीं होगा। अनन्त को सर्वतोभावेन मुक्त और स्वतन्त्र होना चाहिए, और यह सापेक्ष और सान्त की कल्पना ही उस निरपेक्ष और अनन्त के अस्तित्व को सूचित करती है। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही वास्तव में एकमात्र है और आनन्द के उस असीम महासागर में यह विश्व केवल एक बिन्दु के समान है। वह अपने आप से ही खेलता है और इस परिदृश्यमान जगत् के रूप में प्रगट होता है। इस भिन्न–भिन्न असम्पूर्ण वस्तुओं के रूप में वह अभिव्यक्त होता है और साथ ही उसके पूर्णत्व और अखण्डत्व का ऐश्वर्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इस दृश्य संसार में "वह क्रियाशील है और निष्क्रिय भी, वह दूर भी है और समीप भी, वह सबके भीतर विद्यमान है और बाहर भी है।"[1] "जिस प्रकार जाल में बैठा हुआ मकड़ा जाल फैलाता है और धागों को पुन: समेट लेता है, जिस प्रकार बिना किसी प्रयत्न के, मनुष्य के सिर पर बाल उगते हैं उसी प्रकार ज्ञान एवं आनन्द के उस असीम महासागर से यह विश्व निकलता और पुन: उसी में विलीन हो जाता है।"[2]

क्रमविकास के कारण की खोज के द्वारा विज्ञान एक जाति के (Species) के अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन के लिए योग्यतम् की अवस्थिति (Survival of the fittest) और 'यौन–निर्वाचन' (Sexual selection) सम्बन्धी विधान पर पहुँचा है। जहाँ तक सृष्टि

---

1. **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।**
   तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:।। —*ईशोपनिषद्, 5*
2. **यथोर्णनाभि: सृते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति।**
   यथासन: पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। —*मुण्डकोपनिषद् 1/7*

सम्बन्धी क्रमविकास की सत्यता का प्रश्न है, वेदान्त इससे सहमत है, पर इससे उसका मतभेद इसलिए है कि वह कहता है कि एक प्रकार की जाति के अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन का कारण है प्रत्येक रूप से विद्यमान परमात्मा का अपने को उत्तमोत्तम रूप में व्यक्त करने के लिए संघर्ष। जैसा कि हमारे एक बहुत बड़े दार्शनिक का कहना है कि सिंचाई के मामले में, जहाँ तालाब ऊँची सतह पर स्थित है, पानी खेत में बहने की सर्वदा चेष्टा करता रहता है, पर व्यवधान द्वारा रोक दिया जाता है। व्यवधान तक पानी अपनी प्राकृतिक गति से ही वह आयेगा। परमात्मा के इस संघर्ष ने मानव रूप–तक उत्तरोत्तर उच्च रूपों को उत्पन्न अथवा व्यक्त किया। आज भी उसी प्रकार प्रगतिशील है और यह तभी होगा जब परमात्मा, अपने आप बिना किसी बाधा के, पूर्ण रूप में अभिव्यक्त कर देगा। क्रम–विकास की उच्चतम भूमि वह है जहाँ इन्द्रियग्राह्य विश्व अतिक्रमण होकर इन्द्रियातीत अद्वितीय चैतन्यसत्ता में अवस्थिति होती है। विकास की इस अवस्था में मनुष्य बहुत पहले पहुँच चुका है। ईसा, बुद्ध तथा उनके समान संसार के बड़े आचार्य इस अवस्था में पहुँच चुके हैं। अज्ञात रूप में सम्पूर्ण मानव जाति उसी की ओर अग्रसर हो रही है। पर क्या क्रमविकास की यह सर्वोच्च पूर्ण अवस्था सम्भव है ? वेदान्त कहता है, 'हाँ, अवश्य ही', क्योंकि क्रमसंकोच के बिना क्रमविकास कभी हो ही नहीं सकता। इस विकास का अनन्त क्रम स्वीकार करना एक सरल रेखा में अनन्त गति को स्वीकार करने के समान होगा जिसे आधुनिक विज्ञान ने असम्भव बताया है। यह पूर्ण विकास प्राप्त करने में समाज को अनेक युग लग जायेंगे, पर मनुष्य उसे इसी जीवन में प्राप्त कर सकता है और उसने किया भी है। यह बात हम संसार के धार्मिक इतिहास में देख पाते हैं। बाईबिल आदि क्या है ?– केवल उस मनुष्यों के अनुभव का लेखा जो उस अवस्था में पहुँच चुके हैं। उसे अच्छी तरह पढ़कर देखें तो आपको पता चल जायेगा कि वह अवस्था जिसे वेदान्त ने सुप्रसिद्ध सूत्र 'तत्त्वमसि' में व्यक्त किया है (अर्थात् तुम ही ज्ञान आनन्द का वह अनन्त महासागर हो), वही अवस्था बुद्ध द्वारा व्यक्त की गयी निर्वाण–प्राप्ति की अवस्था है। वही अवस्था ईसा द्वारा व्यक्त की गयी स्वर्ग में रहने वाले 'पिता' के समान पूर्णता प्राप्त करने की, तथा मुस्लिम सूफियों द्वारा व्यक्त की गयी सत्य के साथ एकत्व–प्राप्ति की भी अवस्था है। वेदान्त का यह कथन है कि मनुष्य की ब्रह्म से एकत्व–प्राप्ति (अर्थात् उसकी वास्तविक प्रकृति अनन्त और अखण्ड है) का यह विचार भारत या उसके बाहर के प्रत्येक धर्म में विद्यमान है।

दुःखालय शाश्वत्

श्री सुरेन्द्रबहादुर एम. ए.

यह संसार शाश्वत दुःख का घर है। जो कुछ भी स्थावर–जंगम रूप दृश्य है वह स्वप्न के समान अनित्य है। मल–मूत्र आदि की थैलियों और नाड़ियों से भरा हुआ यह शरीर केवल अल्पकाल के लिए भोग भोगने के निमित्त प्राप्त हुआ है। यह शरीर सर्वदा स्वस्थ भी नहीं रहता। नाना प्रकार के रोगों से अभिभूत रहता है। केवल रक्त और मांस का बना हुआ यह घृणास्पद शरीर श्वास–प्रश्वास के धागे पर टिका हुआ है जो पता नहीं कब टूट जायेगा। फिर भी विडम्बना यह है कि मनुष्य इस शरीर के सुख के लिए कौन सा निकृष्ट कर्म करने को तत्पर नहीं रहता। यह शरीर चार अवस्थाओं से होकर गुजरता है–बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु। युवकों को बाल्यावस्था तथा वृद्धों को युवावस्था सुखकर प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में उन अवस्थाओं में जीने वाला जीव समान रूप से दुःखी रहता है। मृत्यु के पूर्व की शेष तीनों अवस्थायें समान रूप से दुःख पूर्ण है। बाल्यावस्था में असमर्थता, आपत्तियाँ मूकता, तृष्णा, मूढ़ता आदि का ही प्राधान्य रहता है। बालक बड़ों के सामने दीनता, असमर्थता, निर्बलता और परतन्त्रता का अनुभव करके दुःखी होता है। युवावस्था में मनुष्य काम–वासना की पूर्ति एवं धनोपार्जन की चिंता में इतना निमज्जित रहता है कि उसे वास्तविक सुख की कल्पना भी नहीं हो सकती। वृद्धावस्था में शरीर शिथिल और निर्बल हो जाता है, इन्द्रियाँ अशक्त हो जाती हैं, वह सर्वदा नाना प्रकार के रोगों से आक्रांत रहने लगता है और अपने को दीन, हीन और निराश्रित अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में तृष्णा बढ़ती ही जाती है जो उसकी शारीरिक एवं ऐन्द्रिक असमर्थता के कारण और भी सन्ताप पहुँचाने वाली बन जाती है। वास्तव में इस संसार में सुख नाम की कोई चीज नहीं है। इस जीवन में मनुष्य को कभी–कभी सुख का आभास लग जाता है जिसके पीछे वह निरन्तर दौड़ता रहता है और इसी आशा की दौड़ में वह अपनी अपरिहार्य मृत्यु की ओर से आँखें मूँदे रहता है तथा अपने को इस पृथ्वी का स्थाई निवासी माने रहता है। इसी को महाराज युधिष्ठिर ने सबसे महान आश्चर्य की संज्ञा दी है–

अहन्यहति भृतानि गच्छन्तहि यमालयम्।
शेषाः यथावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।।

अर्थात् संसार से प्रतिदिन प्राणी यमलोक में जा रहे हैं किन्तु जो बचे हुए हैं वे सर्वदा जीते रहने की इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ?

यह संसार सर्वदा जलते हुए घर के समान है। इसमें सुख और शांति के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। संसार की इसी दुःखरूपता ने बहुत से तत्व विचारकों को निराशावादी बना दिया। जर्मनी के दार्शनिक हार्टमैन ने तो यहाँ तक लिखा है कि–"Not to have been born in

the greatest fate and the next best is to die young."

अर्थात् सर्वोत्तम भाग्य तो यही है कि जन्म ही न हो और उसके बाद का सर्वोत्तम भाग्य यह है कि शीघ्र ही मृत्यु हो जाये। लाइबनीज़ प्रभृति दार्शनिक ने यह स्वीकार किया है कि इस संसार में दुःख, कष्ट और अपूर्णता है जो ईश्वरकृत है। उसका कहना है कि इससे अच्छे संसार का निर्माण ईश्वर कर सकता था किन्तु उसने जान–बूझकर नहीं किया। उसका कहना है कि वैषम्य जीवन का स्वाद है। अब यदि हम मान लें कि ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की तो प्रश्न उठता है कि उसने इस संसार में विषमता की सृष्टि क्यों की ? हम देखते हैं कि कुछ लोग बहुत धनी हैं तो अन्य कुछ निर्धन हैं, कुछ लोग पूर्ण स्वस्थ हैं और कुछ लोग अत्यन्त अस्वस्थ हैं। क्या इससे ईश्वर पर पक्षपात एवं निर्दयता का आरोप नहीं लगता ? इसका उत्तर ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार दिया गया है–

वैषम्यनैर्घृराये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए स्वामी श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि ईश्वर जगत का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर को कारण मानने पर उस पर विषमता तथा निर्दयता का आरोप लगता है। ईश्वर ने किसी को अत्यन्त सुख–भोगी बनाया है, जैसे देवता इत्यादि, किसी को अत्यन्त दुःख–भोक्ता बनाया है, जैसे पशु इत्यादि, किसी को अल्प सुख और अल्प दुःख का भोक्ता बनाया है, जैसे मनुष्य इत्यादि। अतः इस प्रकार की विषम सृष्टि का निर्माण करके ईश्वर साधारण मनुष्य के समान राग–द्वेष से ग्रसित प्रतीत होता है। किन्तु ईश्वर पर वैषम्य (पक्षपात) और निर्दयता का प्रसंग उठ ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो सापेक्ष होकर (जीव के कर्मानुसार) सृष्टि की रचना करता है। अतः सृष्टि में वैषम्य के लिए प्राणियों का धर्माधर्म ही कारण है। अर्थात् जीवों का पिछले जन्मों में किया हुआ कर्म ही विषमता का कारण है। क्योंकि ईश्वर सापेक्ष होकर (जीवों के कर्मों की अपेक्षा से) सृष्टि–रचना करता है, अतः वह पक्षपात और क्रूरता का दोषी नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जो कुछ भी वैषम्य है, जितने भी दुःख अथवा क्लेश हैं वे सब मानव कृत हैं, ईश्वर कृत नहीं। मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही बार–बार जन्म लेता है, दुःख और सुख भोगता है तथा बार–बार मृत्यु को प्राप्त होता है। इस भव–चक्र का कारण मनुष्य स्वयं है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि मनुष्य के वर्तमान जन्म का भोग उसके पिछले जन्मों के कारण है और पिछले जन्मों का भोग उसके भी पूर्व के जन्म के कर्मों के कारण है तो आखिर उसका प्रथम जन्म भी तो कोई रहा होगा और उस जन्म के भोग का कारण क्या रहा होगा ? निश्चय ही कर्म तो नहीं रहा होगा, क्योंकि उसके प्रथम जन्म के पूर्व कोई कर्म नहीं रहा होगा। इस प्रश्न का उत्तर ब्रह्म–सूत्र में इस प्रकार दिया गया है–

अविभागात् इति चेत् न अनादित्वात्।

यह सृष्टि अनादि है अतः इस प्रकार का प्रश्न करने से प्रश्न में अनवस्था दोष आ जायेगा।

न्याय दर्शन में भी कहा गया है–''पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।'' तथा ''आत्म–नित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः।'' इन सूत्रों पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा है जिसका सार यह है कि मरने पर जो दूसरा जन्म होता है उसे प्रेत्य–भाव कहते हैं। जन्म–मृत्यु का यह प्रवाह अनादि है किन्तु अपवर्ग के पश्चात् इसका अन्त हो जाता है। आत्मा नित्य है। वही नाना प्रकार के शरीरों में जाता है।

मनुष्य के जन्म, भोग तथा उसकी आयु का निर्धारक उसका कर्माशय होता है। कर्माशय का अर्थ है कर्म की वासना। कर्माशय की जड़ क्लेश है। योगदर्शन में कहा गया है–

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

अर्थात् क्लेश जिसकी जड़ है ऐसे कर्मों की वासना दृष्ट (वर्तमान) तथा अदृष्ट (भावी) जन्मों में भोगने योग्य है।' चित्त में क्लेशों के संस्कार विद्यमान रहने के कारण उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। उन सकाम कर्मों का फल वर्तमान तथा आने वाले जन्मों में भोगना पड़ता है। इन्हीं सकाम कर्मों के फल–भाग के संस्कार को कर्माशय कहते हैं। इस कर्माशय का फल योग दर्शन में इस प्रकार बतलाया गया है–

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों की जड़ के रहने से उस कर्माशय फल जाति आयु और भोग होता है। भावी जाति अथवा जन्म का निर्धारण कैसे होता है? इसका समाधान गीता में इस प्रकार किया गया है–

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

हे अर्जुन, यह मनुष्य अन्तकाल में जिस–जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है। जीवन में बार–बार लम्बे समय तक जिस भाव का अधिक चिन्तन किया जाता है उसी का दृढ़ अभ्यास हो जाता है और जिस भाव का दृढ़ अभ्यास होता है, उसी भाव का अन्तकाल में अनायास ही स्मरण होता है। मृत्यु के समय जिस भाव का चिन्तन होता है, वह सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकार के भावों का फल इस प्रकार होता है–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धोतु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिपु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते।।

जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल व दिव्य लोकों को प्राप्त होता है। रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है, तथा तमोगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।

'सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्ग आदि ऊँचे लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित मनुष्य मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में ही रह जाते हैं और तमोगुण में स्थित जघन्य गुण–वृत्ति वाले मनुष्य कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं।''

मनुष्य के समस्त दुःखों की उत्पत्ति उसके कर्मों से होती है। कर्मों की उत्पत्ति अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश–इन पाँच क्लेशों से होती है। वास्तव में अविद्या ही सभी क्लेशों की जननी है। अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है। अविद्या की उत्पत्ति चित्त से होती है। यह चित्त प्रकृति का प्रथम परिणाम है। चित्त की उत्पत्ति का कारण है तीनों गुणों की साम्यावस्था का भंग होना। इस साम्यावस्था के भंग होने का कारण है पुरुष का उसमें प्रतिबिम्ब होना। पुरुष भ्रमवश इस प्रतिबिम्ब को ही अपना स्वरूप मान बैठता है और यहीं से सारे अनर्थों की जड़रूपा प्रकृति का सारा खेल पुरुष के निमित्त आरम्भ हो जाता है। अतः क्लेशों की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए पुरुष और प्रकृति का भेदज्ञान (विवेकख्याति) आवश्यक है। विवेक–ख्याति के उदय होने पर गुणों में वितृष्णा रूप पर–वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और इसके परिणाम स्वरूप पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस विवेक–ख्याति को प्राप्त करने के लिए योग ही एक मात्र उपाय है। जिस समय योगी संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है उस समय विवेक–ख्याति का उदय होता है। विवेक–प्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी अपने को चित्त से पृथक देखता है और सारे कर्मों को गुणों का व्यापार देखता हुआ उनसे असंग बना रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है–

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से परे मुझ परमात्मा को जानता है उस समय वह मेरे स्वरूप (अर्थात् स्वरूपप्रतिष्ठा) को प्राप्त होता है। यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को लांघकर जन्म, मृत्यु, जरा तथा सब प्रकार के दुःखों से छूट कर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।'

ऊपर से विवेचनों से यह स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य के सारे दुःख–भोग उसके स्वयंकृत हैं तथा उनको दूर करने का उपाय भी उसी के हाथ में है। अतः अपना परम कल्याण चाहने वाले मनुष्य को पवित्र योगमार्ग पर चलना चाहि तथा जीवन को सात्त्विक विचारों व कर्मों के अनुसार चलाना चाहिए।

सब कुछ शून्य और पूर्ण

अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे।।

अन्तः करण में शून्य है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न वृत्ति का अभाव होने से शून्य है अन्तःकरण से बाहर भी शून्य है अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे आकाश में घड़ा के समान अन्दर तथा बाहर शून्य है औरअन्तःकरण में पूर्ण है अर्थात् अन्तःकरण में वायु पूर्ण है। ब्रह्माकार वृत्ति हो जाने से अथवा ब्रह्म का निवास होने से अन्तः करण के बाहर भी पूर्ण है अथवा हृदयाकाश से बाहर भी पूर्ण है। सत्ता द्वारा ब्रह्मानिरिक्त वृत्ति के अभाव से अथवा ब्रह्म पूर्ण होने से जैसे समुद्र में घड़ा भीतर से पूर्ण होता है। इसी प्रकार समाधि में स्थित योगी भी ब्रह्म से पूर्ण होता है।

-हठयोग प्रदीपिका

कबीर की बानी

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार।।
कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घटा बाती बुझी, सोवैगा दिन राति।।
लम्बा मारग दूर घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यों पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार।।
बहुत दिनन को जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कूं, मन नाहीं विश्राम।।
समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखा चढ़ि गई।।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23 — AUGUST 2023

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उत्कृष्ट हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER — BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

□□□□□□

संतुष्टो मार्यया भर्त्ता भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं सर्वम् तद् रोचते गृहम्

(मनु स्मृति)

जिस परिवार में पत्नी खुश रहती है और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है, तो वहाँ सब प्रकार से सुख सम्पत्ति का वास रहता है।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14568 सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा